



महावीर जयन्ती 2594

# जैनविद्या

समन्तभद्र विशेषांक

जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी  
राजस्थान

# जैनविद्या

जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी द्वारा प्रकाशित

## वार्षिक शोध-पत्रिका

अप्रैल, 1996

सम्पादक मण्डल  
श्री नवीनकुमार बज  
श्री रतनलाल छाबड़ा  
श्री महेन्द्रकुमार पाटनी  
डॉ. कैलाशचन्द्र जैन  
श्री ज्ञानचन्द्र बिल्टीवाला

प्रबन्ध सम्पादक  
श्री कपूरचन्द्र पाटनी  
मंत्री, प्रबन्धकारिणी कमेटी  
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीर जी

सम्पादक  
डॉ. कमलचन्द्र सोगाणी  
श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका  
डॉ. गोपीचन्द्र पाटनी

सहायक सम्पादक  
सुश्री प्रीति जैन

प्रकाशक

## जैनविद्या संस्थान

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

मुद्रक :  
पॉपुलर प्रिन्टर्स  
जयपुर

वार्षिक मूल्य :  
30.00 सामान्यतः  
60.00 पुस्तकालय हेतु

# जैनविद्या

(शोध-पत्रिका)

## सूचनाएं

1. पत्रिका सामान्यतः वर्ष में एक बार, महावीर जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित होगी।
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसंधान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा।
3. रचनाएं जिस रूप में प्राप्त होंगी उन्हें प्रायः उसी रूप में प्रकाशित किया जाएगा। स्वभावतः तथ्यों की प्रामाणिकता आदि का उत्तरदायित्व रचनाकार का होगा।
4. यह आवश्यक नहीं कि प्रकाशक, सम्पादक लेखकों के अभिमत से सहमत हो।
5. रचनाएं कागज के एक ओर कम से कम 3 सें.मी. का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिए।
6. अस्वीकृत/अप्रकाशित रचनाएं लौटाई नहीं जायेंगी।
7. रचनाएं भेजने एवं अन्य सब प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता—

सम्पादक  
जैनविद्या  
जैनविद्या संस्थान  
दिगम्बर जैन नसियां भट्टारकजी  
सवाई रामसिंह रोड  
जयपुर-302004

## विषय-सूची

| क्र.सं. | विषय   | लेखक का नाम                  | पृ. सं. |
|---------|--|------------------------------|---------|
|         | आरंभिक<br>संपादकीय   |                              |         |
| 1.      | आचार्य समन्तभद्रः व्यक्तित्व और कर्तृत्व                         | डॉ. गुलाबचन्द जैन            | 01      |
| 2.      | सारस्वताचार्य समन्तभद्रः व्यक्तित्व और कर्तृत्व                  | डॉ. आदित्य प्रचण्डिया        | 19      |
| 3.      | पुनाति चिंतं   | आचार्य समन्तभद्र             | 24      |
| 4.      | कलिकाल गणधरः आचार्य समन्तभद्र                                    | श्री राजेन्द्रकुमार बंसल     | 25      |
| 5.      | स्वामी समन्तभद्र और उनकी यशोगाथाएं                               | श्री कुन्दनलाल जैन           | 35      |
| 6.      | फलं कुतः   | आचार्य समन्तभद्र             | 50      |
| 7.      | आचार्य समन्तभद्र और उनकी कृति<br>आप्तमीमांसा/देवागम स्तोत्रं     | डॉ. रमेशचन्द्र जैन           | 51      |
| 8.      | समन्तभद्र के दर्शन में 'आप्त' की अवधारणा                         | डॉ. राजवीरसिंह शेखावत        | 55      |
| 9.      | युक्त्यनुशासन और आचार्य समन्तभद्र                                | डॉ. श्रीरंजनसूरिदेव          | 59      |
| 10.     | संस्कृत शतक-परम्परा का आद्यशतक :<br>जिनस्तुतिशतक                 | डॉ. (कु.) आराधना जैन         | 65      |
| 11.     | आचार्य समन्तभद्र की अनुपम कृति<br>रत्नकरण्ड श्रावकाचार           | श्रीमती प्रभावती जैन         | 71      |
| 12.     | नैवासतो जन्म सतो...  | आचार्य समन्तभद्र             | 76      |
| 13.     | रत्नकरण्ड श्रावकाचार की पारिभाषिक<br>शब्दावली- प्रयोग और प्रयोजन | डॉ. महेन्द्रसागर प्रचाण्डिया | 77      |
| 14.     | रत्नकरण्ड श्रावकाचार का प्रतिपाद्य                               | डॉ. राजीव प्रचण्डिया         | 89      |
| 16.     | स्वामी समन्तभद्र की वाणी के आलोक में<br>दैव और पुरुषार्थ         | डॉ. सूरजमुखी जैन             | 99      |
| 16.     | समन्तभद्र स्वामी का आयुर्वेद-विषयक कर्तृत्व                      | आचार्य राजकुमार जैन          | 103     |

## आरम्भिक

शोध पत्रिका 'जैनविद्या' का यह अंक आचार्य समन्तभद्र विशेषांक के रूप में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हम हर्षित हैं।

आचार्य समन्तभद्र ईसा की द्वितीय शताब्दी के मूलसंघ से सम्बन्धित प्रभावक आचार्य हैं। आचार्य समन्तभद्र अद्भुत प्रतिभा के धनी थे, ज्ञान के भण्डार थे। संस्कृत, प्राकृत, कन्नड, तमिल आदि भाषाओं के प्रखर विद्वान् थे। तीर्थंकर महावीर की आचार्य-परम्परा में आचार्य समन्तभद्र का अति विशिष्ट स्थान होने के कारण उन्हें परवर्ती आचार्यों ने अति सम्मानित उपाधियों से विभूषित किया है। उन्होंने पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण प्रायः सभी प्रमुख स्थानों की यात्रा कर जनता को जैनदर्शन का मर्म समझाया। वे महान योगी, त्यागी, तपस्वी एवं तत्त्वज्ञानी थे। उनकी पाँच रचनाएं उपलब्ध हैं —

1. आप्तमीमांसा (देवागम स्तोत्र), 2. स्तुतिविद्या (जिनशतक), 3. युक्त्यनुशासन, 4. स्वयंभू स्तोत्र और 5. रत्नकरण्ड श्रावकाचार। सभी रचनाएं अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं ख्याति-प्राप्त हैं।

जिन विद्वानों ने अपनी रचनाएं भेजकर इस अंक के कलेवर-निर्माण में योगदान किया उनके हम आभारी हैं। अंक के सम्पादक, सहयोगी सम्पादक, सम्पादक-मण्डल भी धन्यवादार्ह हैं।

कपूरचन्द पाटनी  
मंत्री

नरेशकुमार सेठी  
अध्यक्ष

प्रबन्धकारिणी कमेटी,  
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

## सम्पादकीय

“भगवान महावीर की आचार्य-परम्परा में स्वामी समन्तभद्र का अतिविशिष्ट स्थान होने के कारण परवर्ती आचार्यों ने उन्हें कलिकाल गणधर, भारत-भूषण, कविन्द्र भास्वानु, आद्य-स्तुतिकार, भावी तीर्थकर, भद्रमूर्ति और जिन-शासन के प्रणेता जैसी अति सम्मानित उपाधियों सहित स्मरण किया है। स्याद्वादी स्वामी समन्तभद्र का उदय उस समय हुआ जब भारतीय दार्शनिक-क्षितिज में अश्वघोष, मातृचेट, नागार्जुन, कणाद, गौतम और जैमिनी जैसे मनीषी वस्तु-स्वरूप के अंशज्ञान को सर्वांश कह रहे थे। ऐसे संक्रमणकाल में उन्होंने अपनी कालजयी कृति आप्तमीमांसा में ईश्वर, कपिल, सुगत और परमपुरुष ब्रह्मा की तार्किक परीक्षाकर वीतराग-सर्वज्ञ अरहंत-भगवान को सच्चा आप्त (ईश्वर) घोषित किया। स्वामी समन्तभद्र ने सर्वज्ञ (तीर्थकर)-परीक्षा एवं उनकी स्तुति में भक्तिपरक, गूढ़-दार्शनिक एवं तार्किक रचनाएं लिखकर सर्वज्ञता, अनेकान्त, दया (अहिंसा), स्याद्वाद एवं अपरिग्रह की जन-प्रतिष्ठा की। उनके इस अद्भुत योगदान को दृष्टिगत कर परवर्ती आचार्यों/विद्वानों ने अपनी रचनाओं में स्वामी समन्तभद्र को अनेक उपमाओं से विभूषित कर अति श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है।”

“आचार्य जिनसेन, वादिराजसूरि, शुभचन्द्राचार्य, वर्धमानसूरि, वादीभसिंह, वीरनन्दी आचार्य आदि ने अपने ग्रन्थों में अत्यन्त श्रद्धा से समन्तभद्राचार्य का नाम स्मरण किया है। वे धर्मशास्त्री, तार्किक और योगी थे। धर्म, न्याय, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद, मन्त्र-तन्त्र आदि विधाओं में तो निपुण थे ही, वाद-विवाद में भी अत्यन्त पटु थे। उन्होंने स्वान्तः सुखाय के साथ सर्वजनहिताय के लक्ष्य से अनेक ग्रन्थों का सृजन किया है। उनके द्वारा संस्कृत में विरचित उपलब्ध ग्रन्थ हैं-स्वयंभूस्तोत्र, आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, जिन स्तुतिशतक और रत्नकरण्डश्रावकाचार। इनमें प्रथम चार स्तुति-ग्रन्थ भक्ति रस से परिपूर्ण हैं। स्वयंभूस्तोत्र, आप्तमीमांसा और युक्त्यनुशासन में स्तोत्र-प्रणाली से दर्शन, न्याय, धर्म, भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग समाहित हैं। जिनस्तुतिशतक शब्दालंकार-प्रधान स्तुति काव्य है। समन्तभद्राचार्य ने काव्य-सृजन के माध्यम से स्तुतिविद्या का उद्धार, संस्कार एवं विकास किया है अतः उन्हें दिगम्बर जैन संस्कृत परम्परा के आदि कवि, आद्य स्तुतिकार एवं आद्यशतककार होने का गौरव प्राप्त है। उनसे पूर्व का जैन संस्कृत साहित्य काव्य के रूप में न होकर सूत्र के रूप में उपलब्ध है।”

“स्वामी समन्तभद्र का समय 120 ई. से 185 तक का सुनिश्चित होता है। स्व. जुगलकिशोर जी मुख्तार, स्व. डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन एवं स्व. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री प्रभृति विद्वानों ने इसकी पुष्टि की है। उनके पिता नागवंशी चोल नरेश कीलिकवर्मन तथा अग्रज श्री सर्ववर्मन (शेषनाग) थे। अठारह वर्ष की अल्पायु में ही आप मुनि पद पर दीक्षित हो गये थे और लगभग आधी सदी तक जैन धर्म का डंका बजाते हुए जैन तत्त्वज्ञान और दार्शनिक पक्षों की व्याख्या करते हुए एक क्रान्तिकारी आचार्य के रूप में अपने प्रतिद्वन्द्वियों को सम्मोहित करते हुए लगभग 185 ई. को स्वर्गरोहित हुए।”

“स्वामी समन्तभद्र के माता-पिता आदि का नाम स्पष्टरूप से ज्ञात नहीं है। फिर भी श्रवणबेलगोल

में उपलब्ध आप्तमीमांसा की एक ताड़पत्रीय प्रति के अनुसार समन्तभद्र फणिमण्डल के अन्तर्गत उरगपुर के क्षत्रिय राजा के पुत्र थे ।”

“स्वामी समन्तभद्र बहुमुखी भद्र थे । भद्रता उनके व्यक्तित्व का प्रमुख गुण था । वे महान योगी, त्यागी, तपस्वी एवं तत्वज्ञानी थे । वे महावादी, तर्क-पटु एवं परीक्षा-प्रधानी थे । उन्होंने सर्वज्ञ-अभावभादी मीमांसक, भावैकवादी सांख्य, एकान्त पर्यायवादी एवं क्षणिकवादी बौद्ध, सर्वथा उभयवादी वैशेषिक एवं नास्तिकवादी चार्वाक के एकान्त दर्शन की अपूर्णता सार्वजनिकरूप से सिद्धकर जन-मन में अरहंत भगवान के अनेकान्त दर्शन एवं स्याद्वाद को प्रतिष्ठापित किया । अपने बहुमुखी तत्वज्ञान, वाकपटुता, सहज आकर्षण, भाषाधिकार, शुद्ध अन्तःकरण, निर्मल पवित्र जीवन-यात्रा एवं आत्मवैभव द्वारा उन्होंने एकान्तवादियों के अज्ञान अंधकार को दूरकर उन्हें आत्मज्ञानी बनाया ।”

“कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने अपने ‘सिद्धहैमशब्दानुशासन’ में स्वामी समन्तभद्र को ‘स्तुतिकार’, श्री मलयगिरि सूरि ने ‘आवश्यक सूत्र’ की टीका में इन्हें ‘आद्य स्तुतिकार’ के रूप में प्रणाम किया है । इतिहास का अवलोकन करने से भी पता चलता है कि स्वामी समन्तभद्र से पूर्व स्तुतिविद्या का प्रणयन प्रारम्भ ही नहीं हुआ था अतः साहित्य की एक नई विधा के प्रवर्तक होने के कारण आप ‘स्तुतिकार’ या ‘आद्य स्तुतिकार’ के रूप में वंदनीय रहे ।”

“स्वामी समन्तभद्र की पाँच पद्यात्मक रचनाएं उपलब्ध हैं जो मूलतः भक्तिपरक होकर गूढ़, रहस्यमयी, दार्शनिक रचनाएं कही जाती हैं— 1. आप्तमीमांसा या देवगम स्तोत्र, 2. युक्त्यनुशासन या वीर जिन स्तोत्र, 3. स्तुतिविद्या या जिनशतक, 4. स्वयंभूस्तोत्र और 5. रत्नकरण्ड श्रावकाचार ।

“आचार्य समन्तभद्र की प्रथम रचना ‘आप्तमीमांसा का आरम्भ ‘देवगम’ शब्द से हुआ है । इसमें दस परिच्छेद और एक सौ चौदह कारिकाएं हैं । एकान्तवादी दृष्टिकोणों का समुचित निरसन और आप्त पुरुषों के आप्तत्व की सम्यक् मीमांसा के कारण इस कृति का नाम ‘आप्तमीमांसा’ पड़ा । यह ग्रन्थ जैनदर्शन का आधारभूत ग्रन्थ है । आचार्य अकलंक ने इस ग्रन्थ पर अष्टशती नामक भाष्य लिखा है । अष्टशती भाष्य पर आचार्य विद्यानन्द ने ‘अष्टसहस्री’ नामक विशाल टीका लिखी है । यशोविजयजी ने अष्टसहस्री पर संस्कृत टीका और आचार्य वसुनन्दि ने संक्षिप्त देवगम वृत्ति की रचना की है । पण्डित जयचन्द छाबड़ा की एक हिन्दी टीका भी प्रकाशित है ।”

“आज के एकान्तवाद के पूर्वाग्रही समाज के लिए आचार्य समन्तभद्र के इस अनेकान्तवाद अर्थात् समतावादी दृष्टिकोण को अपनाना अत्यावश्यक है; क्योंकि बिना अनेकान्त दृष्टि के न्याय-अन्याय की पहचान सम्भव नहीं है । जो सुखमय और समतामूलक जीवन की वस्तुस्थिति या मूलकारण को जानने की इच्छा करते हैं उनके लिए आचार्य समन्तभद्र का वीरस्वरूप ‘युक्त्यनुशासन’ हितान्वेषण के उपाय-स्वरूप है । आज समस्त अलोकतान्त्रिक घटनाएँ श्रद्धा और गुणज्ञता के अभाव के कारण ही घटती हैं । अवश्य ही, ‘युक्त्यनुशासन’ एक ऐसी महिमामयी शाश्वतिक कृति है जिसमें लोकहित की अनेकान्त-दृष्टि निहित है ।”

“भगवान महावीर के शासन में, गौतम गणधर के बाद स्वामी समन्तभद्र ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने जैन न्याय-सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित किया और स्याद्वाद चिह्नित महावीर वाणी को केवलज्ञान के अंश के रूप में प्रमाणिकता एवं गरिमा प्रदान की। आत्म-साधना, प्रखर दार्शनिक एवं विद्वत्तापूर्ण रचनाओं तथा अनेकान्त दर्शन के प्रचार-प्रसार में स्वामी समन्तभद्र के अनुपम अद्भुत योगदान के कारण उन्हें सदैव स्मरण किया जाता रहेगा।”

“जिनस्तुतिशतक-स्तुतिविद्या भक्तियोग का प्रमुख ग्रन्थ है। इसके स्तुति, पूजा, वन्दना, आराधना, शरणागति, भजन, स्मरण, नाम-कीर्तन आदि अंग हैं जो आत्मविकास में और मन की एकाग्रता में सहायक हैं। भक्तिपरक इस ग्रन्थ में जैन दर्शन के सिद्धान्तों की विवेचना रोचक और कलात्मक शैली में हुई है। जहाँ इसका कला-पक्ष सबल है वहीं भावपक्ष भी मनोहारी है। काव्य से निसृत रस-सरिता में अवगाहन कर सहृदय अलौकिक आनन्द की मस्ती में डूब जाता है। संस्कृत शतक-परम्परा का आद्य शतक जिनस्तुति शतक परवर्ती शतकों के लिए आधार-स्तम्भ है।”

“‘स्तुतिविद्या’ जैसी सशक्त शब्दालंकार और चित्रालंकारों से युक्त रचना को देखकर ऐसा लगता है मानो चित्रकाव्य के सर्वप्रथम स्रष्टा स्वामी समन्तभद्राचार्य ही रहे हों। इनसे पूर्व ऐसी विशिष्ट चित्रकाव्यात्मक कृति कतई दृष्टिगोचर नहीं होती है। संभवतः चित्रकाव्य की यह सबसे पहली ही रचना हो।”

“स्वयंभूस्तोत्र आचार्य श्री समन्तभद्र की प्रौढ रचना है। इसमें चतुर्विंशति जिनेन्द्रों की स्तुति की गई है।”

“‘रत्नकरण्ड श्रावकाचार’ श्रावकाचार-परम्परा में पहला श्रावकाचार है। यह स्वामी समन्तभद्र की एक सारगर्भित कृति है। आचार्य ने अत्रती श्रावक से लेकर व्रती श्रावक की समस्त क्रियाओं का प्रतिपादन किया है। इस श्रावकाचार में 150 श्लोक हैं जिनमें सम्यग्दर्शन का स्वरूप, सच्चे देव-शास्त्र और गुरु का स्वरूप बताकर सम्यग्ज्ञान और उसके अंगों को बताया है। सम्यक्चारित्र में व्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का, बारह व्रतों का, उनके 60 अतिचारों का, सम्यग्दर्शन के पाँच और सल्लेखना के पाँच अतिचारों का वर्णन किया है।”

“आचार्य समन्तभद्र द्वारा प्रणीत ‘रत्नकरण्ड श्रावकाचार’ चरणानुयोग से अनुप्राणित जैन साहित्य या आगम का प्रतिनिधित्व करता है।” “जैन-जगत में श्रावकचर्या को संयत और सुगठित रखने के लिए रत्नकरण्ड श्रावकाचार का अवदान अत्यधिक मूल्यवान है। गृहस्थचर्या का यह वस्तुतः एक नैतिक संविधान है।”

“जैन वाङ्मय के रचयिताओं तथा जैन संस्कृति के प्रभावक आचार्यों में श्री समन्तभद्र स्वामी का नाम अत्यन्त श्रद्धा एवं आदर के साथ लिया जाता है। आप एक ऐसे सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली आचार्य रहे हैं जिन्होंने ने वीर-शासन के रहस्य को हृदयंगम कर दिग्-दिगन्त में उसे व्याप्त किया। आपके वैदूष्य का एक वैशिष्ट्य यह था कि आपने समस्त दर्शनों का गहन अध्ययन किया और उनके गूढ़तम रहस्यों का



तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था। आपने धर्मशास्त्र के मर्म को हृदयंगम कर उसके आचरण-व्यवहार में विशेषरूप से तत्परता प्रकट की। आपकी पूजनीयता एवं महनीयता के कारण ही परवर्ती अनेक आचार्यों एवं मनीषियों ने अत्यन्त श्रद्धा एवं बहुमानपूर्वक आपको स्मरण किया है। आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने 'युक्त्यनुशासन टीका' के अन्त में आपको 'परीक्षेक्षण'-परीक्षा-नेत्र से सबको देखनेवाले लिखा है। इसी प्रकार अष्टसहस्री में आपके वचन-महात्म्य का गौरव ख्यापित करते हुए आपको बहुमान दिया गया है। श्री अकलंकदेव ने अपने ग्रंथ 'अष्टशती' में आपको 'भव्यैकलोकनयन' कहते हुए। आपकी महनीयता प्रकट की है। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में कवियों, गमकों, वादियों और वाग्मियों में समन्तभद्र का यश चूड़ामणि की भाँति सर्वोपरि निरूपित किया है। इसी भाँति जिनसेन सूरि ने 'हरिवंशपुराण' में, वादिराजसूरि ने 'न्याय विनिश्चय विवरण' तथा 'पार्श्वनाथचरित' में, वीरनन्दि ने 'चन्द्रप्रभचरित' में, हस्तिमल्ल ने 'विक्रान्त कौरव नाटक' में तथा अन्य अनेक ग्रंथकारों ने भी अपने-अपने ग्रंथ के प्रारम्भ में इनका बहुत ही आदरपूर्वक स्मरण किया है। इससे समन्तभद्र स्वामी का वैदूष्य, ज्ञान-गरिमा, पूजनीयता और परवर्ती आचार्यों पर प्रभाव भली-भाँति ज्ञात होता है।”

“समन्तभद्राचार्य ने अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद के माध्यम से जिन-शासन-दर्शन की सर्वतोन्मुखी उन्नतिकर भारतीय दर्शन के चहुँमुखी विकास में विलक्षण योगदान दिया है। उनकी उत्कृष्ट और अलौकिक रचनाओं में भव्यजीवों के कल्याण की भावना निहित है।”

जिन विद्वान् लेखकों ने अपनी रचनाएं भेजकर इस अंक के प्रकाशन में सहयोग प्रदान किया उन सभी के प्रति हम आभारी हैं।

संस्थान समिति, सहयोगी सम्पादक, सम्पादक मण्डल एवं सहयोगी कार्यकर्ताओं के प्रति भी आभारी हैं। मुद्रण हेतु पॉपुलर प्रिन्टर्स धन्यवादार्ह है।

**डॉ. कमलचन्द सोगाणी**

## आचार्य समन्तभद्र : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

- डॉ. गुलाबचन्द्र जैन

### सामान्य परिचय

जैनाचार्यों में मूर्धन्य तार्किक विद्वान समन्तभद्र को कौन नहीं जानता ? आप सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। आपने अपनी रचना रत्नकरण्ड श्रावकाचार में प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग- इन चारों अनुयोगों के लक्षण लिखे हैं जिससे ज्ञात होता है कि आप चारों अनुयोगों के निष्णात् विद्वान थे। क्योंकि वस्तु का लक्षण लिखनेवाला उसका पूर्ण ज्ञाता होता है।

स्वामीजी का विशेष परिचय पाने के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। आचार्य जिनसेन के महापुराण की एक कारिका निम्न प्रकार है जो आचार्य समन्तभद्र को अनेक विशेषणों से सम्पन्न सिद्ध करती है-

कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि ।

यशः समन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥1.44॥

समन्तभद्र की कीर्ति कवियों, गमकों, वादियों तथा वाग्मियों के मस्तक पर चूडामणि सदृश शोभा को प्राप्त होती है। इस उक्ति का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है-

कविर्नूतन सन्दर्भो गमको कृति भेदकः ।

वादी विजयागवृत्तिर्वाग्मी जनरंजकः ॥

अर्थात् नवीनतापूर्ण रचना करने से कवि हैं, शास्त्रों के मर्म को स्पष्ट करनेवाला होने से गमक हैं,

वाणी की विजयपूर्णता से आप वादी हैं, जनता के हृदय को आनन्दित करने से आप वामी हैं। इस प्रकार स्वामीजी की महत्ता को ज्ञापित करनेवाली बहुमूल्य सामग्री अनेक ग्रन्थों, शिलालेखों से प्राप्त होती है। इसी क्रम में सिद्धान्तसार संग्रह में आचार्य नरेन्द्रसेन की अत्यन्त मार्मिक उक्ति निम्न प्रकार है-

**श्रीमत्समन्तभद्रस्य देवस्यापि वचोऽनघम् ।  
प्राणिनां दुर्लभं यद्वन्मानुषत्व तथा पुनः ॥**

श्री समन्तभद्र की निर्दोष वाणी प्राणियों को मनुष्य पर्याय की प्राप्ति-सदृश अत्यन्त दुर्लभ है। श्री समन्तभद्र आगामी उत्सर्पिणीकाल की चौबीसी में तेईसवें तीर्थंकर दिव्यवाद होंगे- ऐसी जनश्रुति है।

### जन्मस्थान

आचार्य समन्तभद्र के जन्मस्थान का परिचय श्रवणबेलगोला के श्री दोर्बलि जिनदास शास्त्री के शास्त्र-भण्डार में सुरक्षित एक प्राचीन ताड़पत्रीय प्रति के निम्न पुष्पिका वाक्य से मिलता है - 'इति श्री फणि-मंडलालंकार स्योरगपुराधिप सूतोःश्री स्वामिसमन्तभद्र मुनेःकृत आत्ममीमांसायाम्।' आप फणिमण्डल के अन्तर्गत उरगपुर के क्षत्रिय राजा के पुत्र थे अर्थात् वे क्षत्रिय राजपुत्र थे। यह उरगपुर उरैयूर का ही श्रुतिमधुर संस्कृत नाम जान पड़ता है जो चोल राजाओं की सबसे प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी थी। पुरानी त्रिचिनापल्ली भी इसी को कहते हैं। यह नगर कावेरी नदी के तट पर बसा हुआ था, बन्दरगाह था और किसी समय बड़ा समृद्धिशाली जनपद था।

### आत्म-परिचय

जब आचार्य समन्तभद्र अपने वाद का उद्घोष करते हुए करहाटक नगर पहुँचे तब वहाँ के राजा को अपना परिचय इस प्रकार दिया-

पूर्वं पाटलिपुत्र-मध्यनगरे भेरी मया ताडिता ,  
पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क-विषये कांचीपुरे वैदिशे ।  
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,  
वादारथीं विचराम्यहं नरपते शार्दुलविक्रीडितम् ॥

- हे राजन, करहाटक नगर में आने से पूर्व मैंने सर्वप्रथम पाटलिपुत्र नगर (पटना) में भेरी बजाई, पश्चात् मालवदेश (मालवा), सिन्धुदेश, ठक्कदेश (पंजाब), कांचीपुरा (कांचीवरम्) और वैदिश (विदिशा)- इन देशों में स्याद्वाद का नक्कारा बजा आया। अब मैं बहु विद्वानों से भरी हुई और विद्या का उत्कृष्ट स्थान जानकर यहां आपकी सभा में आया हूँ। हे राजन! मैं वाद के लिए सिंह-सदृश क्रीड़ा कर रहा हूँ।

पुनः काशी-नरेश के समक्ष कहा-

आचार्योहं कविरहमहं वादिराद् पंडितोऽहं ।  
दैवज्ञोहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोहं ॥

राजन्नस्यां जलथि वलया मेखलायामिलायाम् ।

आज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोहम् ॥<sup>2</sup>

- हे राजन् । मैं आचार्य (पांच प्रकार के आचार का पालन करनेवाला) हूँ, महान कविता करनेवाला कवि हूँ । वादिराट् (शास्त्रार्थ करनेवाला) हूँ, मैं पण्डित हूँ (प्रज्ञातिशयवान्), ज्योतिष-विद्या पारंगत हूँ । मैं निमित्त शास्त्र, मंत्रशास्त्र, तंत्रशास्त्र का विद्वान् हूँ । अधिक क्या कहूँ- इस समुद्र मेखलावाले पृथ्वी-मंडल में आज्ञासिद्ध (आज्ञा से कार्य करानेवाला) और सिद्धसारस्वत (सरस्वती को सिद्ध किये हुए) हूँ ।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य समन्तभद्र ने सारे भारत में भ्रमण किया और जहाँ गये वहाँ विजयश्री को वरण किया, आपका किसी ने विरोध नहीं किया । आचार्य श्री के विषय में प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता विद्वान् श्री एम. एस. रामास्वामी आयरंगर के उद्गार हैं- “ही मैट विद नो अपोजीशन फ्रॉम अदर सेक्टर वेअर वर ही वेन्ट” ।

### समय-निर्धारण

सामान्यतः सर्वसम्मत रूप से इनको विक्रम की दूसरी शताब्दी का माना जाता है परन्तु कुछ लोग इसमें सन्देह कर रहे हैं और फिर भी अनेक तर्क प्रस्तुत किये जा रहे हैं, यथा- बौद्ध तार्किक पं. धर्मकीर्ति के समकालीन बतातेवाले डा. सतीशचन्द्र विद्याभूषण इनको ई. 600 में स्थापित करते हैं । रत्नकरण्ड श्रावकाचार के श्लोक सं. 9 को सिद्धसेन दिवाकरकृत न्यायावतार से आगत बताकर श्वेताम्बर विद्वान् पं. सुखलाल जी प्रज्ञाशिक्षु इनको छठी शताब्दी का मानते हैं । श्री नाथूलाल प्रेमी तथा डा. हीरालाल जैन इन्हें ई. 510 का स्वीकारते हैं । परन्तु नागवंशी चोल नरेश कौलिक वर्मन के ऐतिहासिक साक्ष्य के अनुसार डा. ज्योतिप्रसाद इनको ई. 120-185 में मानते हैं । श्री जुगलकिशोर मुख्तार तथा डा. महेन्द्रकुमार जैन ई. 210 में प्रतिष्ठित मानते हैं । किन्तु ऐसा स्वीकारने पर श्रवणबेलगोल के शिलालेख सं. 40 में गृद्धपिच्छ (उमास्वामी) के प्रशिष्य कहा गया है यह घटित नहीं होता । इस प्रकार कोई इनको वि.सं. 57, वि. सं. 125, कुछ वि.सं. 138 तथा कोई विक्रम की दूसरी शताब्दी के अन्तिम चरण में मानते हैं किन्तु जब इनको उमास्वामी के प्रशिष्य मानते हैं तो इनका उमास्वामी से पीछे के तथा पूज्यपाद आचार्य के पूर्व के मानते हैं क्योंकि पूज्यपाद ने अपनी जैनेन्द्र व्याकरण में ‘चतुष्टयं समन्तभद्रस्य’ शब्द का उच्चारण किया है ।

इस उक्त ऊहापोह से यही सिद्ध होता है कि अभी इनका यथार्थ काल शोध का विषय ही है ।

### कर्तृत्व

आचार्य समन्तभद्र के कर्तृत्व के विषय में उनकी रचनाएं सार्थक हैं । जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष में इनकी निम्नलिखित 12 रचनाएं बताई हैं - (1) वृहत् स्वयंभूस्तोत्र, (2) स्तुतिविद्या (जिनशतक), (3) देवागम स्तोत्र (आप्तमीमांसा), (4) युक्त्यनुशासन, (5) तत्वानुशासन, (6) जीव-सिद्धि, (7) प्रमाण-पदार्थ, (8) कर्मप्राभुतटीका, (9) गंधहस्तीमहाभाष्य, (10) रत्नकरण्ड श्रावकाचार, (11) प्राकृत-व्याकरण और (12) षट्खण्डागम के आद्य पांच खण्डों पर टीका । किन्तु विद्वान् इसे प्रमाण

नहीं मानते। इनमें जीव-सिद्धि एवं गन्धहस्तिमहाभाष्य-दोनों अप्राप्य हैं। विशेष प्रसिद्ध ग्रंथ हैं- (1) वृहत् स्वयंभूस्तोत्र, (2) स्तुतिविद्या या जिनशतकम्, (3) युक्त्यनुशासन, (4) देवागम स्तोत्र (अप्तमीमांसा) और (5) रत्नकरण्ड श्रावकाचार।

यद्यपि सारे ही ग्रंथ उच्च कोटि के एवं तर्कसम्मत हैं किन्तु यहाँ उक्त पाँच पर ही संक्षिप्त विचार व्यक्त किया गया है। स्वामीजी आद्य स्तुतिकार थे। स्वयंभूस्तोत्र में चतुर्विंशति तीर्थकरों की स-तर्क स्तुति प्रस्तुत की गई है। स्तुतिकर्ता ने भगवन्तों के गुणों की प्रशंसा तो की ही है किन्तु यह भी दर्शाया है कि आप स्तुत्य क्यों हैं ? और मैं स्तुतिकर्ता क्यों हूँ इस पर भी प्रकाश डाला गया है। स्तुतिविद्या का नामकरण ही स्तुति-सम्मत है। इसमें भी चतुर्विंशति जिनेन्द्रों की स्तुति की गई है। आप्तमीमांसा या (देवागमस्तोत्र) में आप्त की युक्तियुक्त मीमांसा की गई है। जब भगवान महावीर को तर्क-वितर्क से आप्त मान लिया तो फिर युक्तिपूर्वक अनुशासित ढंग से उनकी स्तुति युक्त्यनुशासन में की गई। रत्नकरण्ड श्रावकाचार सब श्रावकाचारों में प्रथम श्रावकाचार है; स्वामीजी ने इसको रत्नों का करण्ड (टोकरा) बताया है। इसके सारे विषय अत्रती एवं व्रती श्रावक से सम्बन्धित हैं। सर्वप्रथम स्वयंभूस्तोत्र पर विचार किया जाता है-

### स्वयंभूस्तोत्र

स्वयंभूस्तोत्र आचार्य श्री समन्तभद्र की प्रौढ रचना है। आपने अपने समस्त स्तुति-ग्रंथों में प्रगाढ़ तत्त्व-निरूपण किया है। नाम केवल स्तुति है किन्तु जैन आगम का रहस्य कूट-कूट कर भरा है। कहीं-कहीं यह वृहत् स्वयंभूस्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध है, इससे स्वयंभूस्तोत्र वृहत् और लघु- ऐसे दो प्रकार का नहीं समझना चाहिए। जिस ग्रंथ में टीकासहित अर्थ व भावार्थ दिया है वह वृहत् और जिसमें मात्र श्लोक ही दिये गये हैं वह लघु समझना चाहिये। ये पृथक-पृथक नहीं हैं। स्वयंभूस्तोत्र में चतुर्विंशति जिनेन्द्रों की स्तुति की गई है। भगवान आदिनाथ की स्तुति करते हुए स्वामीजी ने 'स्वयंभुवाभूतहितेन भूतले' शब्द से प्रारम्भ किया। इस कारण इस स्तुति का नामकरण स्वयंभूस्तोत्र कर दिया गया। जैसे कि तत्त्वार्थसूत्र के मंगलाचरण में 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' वाक्य प्रथम आने से 'मोक्ष शास्त्र' नाम रख दिया गया। आदिनाथ स्तोत्र में प्रथम वाक्य 'भक्तामरप्रणत मौलि' आने से 'भक्तामर स्तोत्र' नाम रख दिया गया, 'दृष्टं जिनेन्द्र भवनं' प्रथम शब्द के होने से 'दृष्टाष्ट स्तोत्र' नाम रख दिया, 'अद्य में सफल जन्म' इत्यादि प्रथम शब्द आने से 'अद्यास्तोत्र' नाम रख दिया गया। 'कल्याणमन्दिर मुदारमवद्य भेदि' वाक्य प्रथम आने से स्तोत्र का नाम 'कल्याण मन्दिर' रख दिया गया। इसी प्रकार स्वयंभूस्तोत्र में भी समझना चाहिये। स्तुतिकार ने चौबीस तीर्थकरों की स्तुति में प्रथम तीर्थकर की स्तुति सत्रह श्लोकों में तथा दूसरे तीर्थकर से सत्रहवें तीर्थकर की स्तुति पांच-पांच श्लोकों में की है, अठारहवें तीर्थकर अरहनाथ की स्तुति बीस पद्यों में पूर्ण की, पुनः मल्लिनाथ से नेमिनाथ तक तीन तीर्थकरों की स्तुति पांच-पांच श्लोकों में की, नेमिनाथ भगवान की स्तुति दश पद्यों में की, पश्चात् पार्श्वनाथ की स्तुति पांच पद्यों में और भगवान महावीर की स्तुति आठ पद्यों में कर ग्रंथ को कुल एक सौ तियालीस पद्यों में समाप्त किया। प्रस्तुत ग्रंथ अनेक छंदों में ग्रथित कवियों, वाग्मियों, मनीषियों तथा भक्तजनों का कण्ठाभरण एवं आनन्दानुभूति का प्रगाढ़ सोपान है। इसका प्रत्येक छन्द भक्ति रस के साथ शान्त रस का रसपान करानेवाला है। यहां उदाहरण के लिए कतिपय छन्द द्रष्टव्य एवं ध्यातव्य हैं -

**स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले समंजसज्ञानविभूतिचक्षुषा ।**

**विराजितं येन विधुन्वता तमः क्षपाकरोणव गुणोत्करैः करैः ॥11॥**

उपजाति छंद से अलंकृत प्रस्तुत पद्य भगवान आदिनाथ की स्तुति-सम्मत है। इसमें कहा गया है कि हे आदिनाथ भगवन्, आप इस पृथ्वीतल पर अपने अभ्युदय के स्वयं निर्माता हैं। अतः आप वास्तव में स्वयंभू हैं। आपने प्राणीमात्र का कल्याण किया है। जिस प्रकार चन्द्रमा अपनी किरणों से रात्रिजन्य अन्धकार दूर करता है उसी प्रकार आपने अपने आध्यात्मिक वैभव द्वारा अर्थात् केवलज्ञान-रूप प्रकाश से भव्यात्माओं का अन्तरंग और बहिरंग अज्ञानान्धकार दूर किया है।

**त्वं शम्भवः संभवतर्षरोगैः संतप्यमानस्य जनस्य लोके ।**

**आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथानाथरुजां प्रशान्त्यै ॥11॥**

प्रस्तुत पद्य इन्द्रवज्रा छंद से सुशोभित है। इसमें कवि ने भगवान को तृष्णा शान्त करनेवाले वैद्य की उपमा देते हुए कहा कि हे संभवनाथ भगवान, जिस प्रकार चतुर वैद्य शारीरिक रोगों को शमन करता है उसी प्रकार आप सांसारिक तृष्णाजन्य रोग से प्रस्त मानव के रोगों को शान्त करने में आकस्मिक अर्थात् अचानक आये हुए सफल वैद्य हैं।

**अचेतने तत्कृतबन्धजेऽपि च ममेदमित्याभिनवेशिकग्रहात् ।**

**प्रभंगुरे स्थावरनिश्चयेन च क्षतं जगत्तत्त्वमजिग्रहाद्भवान् ॥17॥**

प्रस्तुत पद्य उपेन्द्रवज्रा छंद से अलंकृत है। इसमें स्वामी जी ने बताया है कि समस्त जगत इस जड़ शरीर में तथा तत्सम्बन्धित कर्म-बन्ध द्वारा प्राप्त धनादि या कुटुम्ब आदि में ममकार किये हुए है। अर्थात् वह यह धारणा किये बैठा है कि यह मेरा है, वह मेरा है, इत्यादि क्षणिक संयोगों को स्थिर माने हुए है तथा इसी मिथ्याधारणा से कष्ट पा रहा है। ऐसे प्राणियों को शरीर और आत्मा का यथार्थ ज्ञान करा के आपने तत्त्व का असली रूप-स्वरूप बतलाया है।

**अनेकमेकं च तदेव तत्त्वं भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम् ।**

**मृषोपचारोऽन्यतरस्य लोपे तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम् ॥22॥**

उपेन्द्रवज्रा छन्द से समन्वित उक्त पद्य में भगवान सुमतिनाथ को युक्तियुक्त मत के प्रवक्ता बताया है। स्वामी जी कहते हैं कि हे भगवान! आपका स्याद्वाद व अनेकान्त मत भेद (विशेष)-दृष्टि से पदार्थ को अनेकरूप तथा सामान्य अभेददृष्टि से एकरूप बतानेवाला है। यदि इन दोनों सामान्य-विशेष भेद को न मानकर मात्र एक ही धर्म को माना जायेगा तो वस्तु का वस्तुत्व धर्म ही नष्ट हो जायेगा। यदि एक का झूठा उपचार किया जाय तो दूसरा लुप्त हो जायेगा। इस प्रकार स्वभाव से च्युत होने पर शून्यता का प्रसंग आ जायेगा।

**अलंध्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिङ्गा ।**

**अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥33॥**

उपेन्द्रवज्रा छंद में उपनिबद्ध पद्य श्री सुपाश्वर्ष जिनदेव की स्तुति में कहा गया है। श्री समन्तभद्र कहते हैं कि हे भगवन् ! भवितव्य में अलंघ्य शक्ति है। आपके द्वारा बताई गई अन्तरंग और बहिरंग शक्ति से ही कार्य सम्पन्न होता है। इसमें अन्तरंग आत्मा के उपादान परिणाम और बहिरंग मोहनीय अन्तराय साता-असाता कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम कारण है। इन दोनों कारणों के मिलने पर ही कार्य-सिद्धि होती है। जो व्यक्ति इनको न समझकर मैं करता हूँ, मैंने किया था या कर दूंगा- इस प्रकार मिथ्या अहंकार करता है वह व्यर्थ में दुखी होता है।

**पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ ।**

**दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ ॥58॥**

इन्द्रवज्रा छंद में स्तुति करते हुए आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि हे वासुपूज्य भगवन्, आप जगत-पूज्य हैं। आपकी पूजा करनेवालों को स्नानादि कार्यों में थोड़ा पाप भी होता है किन्तु यह पाप आपकी पूजा करने के शुभभावों से उत्पन्न हुए पुण्य कर्म के समक्ष अत्यन्त तुच्छ है। जैसे- अपार राशिवाले शीतल जलयुक्त समुद्र में यदि एक कणिकामात्र विष-बिन्दु डाल दिया जावे तो क्या फर्क पड़नेवाला है। इसी प्रकार आपकी पूजा करने में यदि कुछ पाप का अंश लग भी जाय तो भंडार-भरे पुण्य-राशि में क्या अन्तर पड़नेवाला है। अर्थात् घने पुण्य के आगे किंचित् पाप अकिंचित्कर है।

**बाह्येतरपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ।**

**नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥60॥**

उक्त इन्द्रवज्रा छंद में आचार्य देव कहते हैं कि कार्यों के सम्पन्न होने में बाह्य निमित्त कारण और अन्तरंग उपादान कारणों का मिलना आवश्यक है। न केवल निमित्त ही कार्य सम्पन्न करा सकता है और न केवल उपादान ही। कार्य सम्पन्न होने में दोनों का योगदान आवश्यक है। यह वस्तु का द्रव्यगत स्वभाव है। लौकिक कार्य भी दोनों के मिलने पर ही हो सकते हैं और मुक्ति-प्राप्ति भी दोनों कारणों के मिलने पर ही संभव है। जैसे बाह्य में कर्मभूमि का होना, वज्रवृषभ नाराचसंहनन का होना, उत्तम कुल में जन्म का होना और अन्तरंग में सर्वकर्मों का क्षय होना मुक्ति में कारण है। इस का ज्ञान आपने ही कराया है। इसलिये हे वासुपूज्य भगवन्, आप गणधरादि ऋषियों द्वारा वन्दनीय हैं।

**गुणस्तोकं सदुल्लंघ्य, तद्बहुत्वकथा स्तुतिः ।**

**आनन्त्याते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥86॥**

उक्त अनुष्टुप छंद में स्वामीजी कहते हैं कि हे अरहनाथ भगवन् ! किसी के थोड़े से गुणों को बढ़ा-चढ़ा कर कहना स्तुति कहलाता है। परन्तु आप में तो अनन्त गुण हैं, उनकी स्तुति कैसे की जाय ! तात्पर्य यह है कि आपके गुणों को बढ़ा-चढ़ाकर कहने की शक्ति मुझ में कहाँ है !

**अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते, सतो शून्यो विपर्ययः ।**

**ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्, तदयुक्तं स्वघाततः ॥98॥**

अनुष्टुप छंद में भगवान अरहनाथ के अनेकान्तवाद को सत्य एवं प्रमाणिक बताते हुए आचार्य कहते हैं कि हे भगवान, आपके अनेकान्तवाद के विपरीत एकान्तवाद का कथन सर्वथा मिथ्या है जो अपने ही सिद्धान्त का घातक है अतः अयुक्त है।

**सर्वथा नियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः ।**

**स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्म विद्विषाम् ॥102॥**

आचार्य भगवान द्वारा कथित स्यात् शब्द का प्रयोग न्यायसम्मत सिद्धान्त बताते हैं। वे कहते हैं कि हे जिनेश्वर ! सर्वथा एकान्तवाद नियम का त्यागी है। किन्तु आपका अनेकान्त 'स्याद्' शब्द से वांछित होने से न्यायसंगत है। स्यात् शब्द न होने से अन्य मत स्वघातक एवं मिथ्या हैं।

**अनेकान्तोप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः ।**

**अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥103॥**

प्रमाण और नय से सिद्ध होने पर अनेकान्त भी अनेकान्त स्वरूप है। अर्थात् किसी अपेक्षा से अनेकान्त है और किसी अपेक्षा से एकान्त है। हे अरहनाथ जिन, आपके मत में प्रमाण की अपेक्षा से जो सर्व धर्मों को एकसाथ जाननेवाला है वह अनेकान्त अनेक धर्म-स्वरूप है और किसी विशेष नय की अपेक्षा से वह अनेकान्त एकान्त-स्वरूप है। अर्थात् एक स्वभाव को बतानेवाला है।

**अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,**

**न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।**

**ततस्तत्सिद्धयर्थं परमकरुणो ग्रंथमुभयम् ।**

**भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥119॥**

उक्त शिखरिणी छंद में स्वामी जी ने अहिंसा को परमब्रह्म परमात्म-स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि जिस आश्रम के नियमों में किंचित् मात्र भी आरम्भ का व्यापार है वहाँ पूर्ण अहिंसा नहीं हो सकती। इसलिए उस पूर्ण अहिंसा के वास्ते परम दयावान, आपने (नमि जिन ने) अन्तरंग एवं बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह को त्याग दिया तथा विकारी वेशों से छुटकारा पाकर दिगम्बर वेश धारण कर लिया।

**अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः ।**

**इतरो न स्याद्वादो सद्वितयविरोधान्मुनीश्वरा स्याद्वादः ॥138॥**

आर्या छंद में गुम्फित भगवान महावीर की स्तुति करते हुए आचार्य श्री समन्तभद्र कहते हैं कि भगवान ! आपका स्याद्वादमय अनेकान्त शासन अनवद्य (निर्दोष) है। वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से तथा आगम से अवरुद्ध है क्योंकि वह कथंचित् या अपेक्षावाला होने से यथार्थ है। इसके अतिरिक्त एकान्त मत जो कि अपेक्षा से रहित है दूषित है। वह एकान्तमत प्रत्यक्ष और आगम प्रमाण से विरुद्ध होने से सच्चा नहीं है। स्याद्वाद ही भिन्न-भिन्न स्वभावों में सिद्ध करनेवाला है।

इस प्रकार स्वयंभूस्तोत्र में स्वामी समन्तभद्र ने चतुर्विंशति तीर्थकरों की स्तुति करके स्याद्वाद सिद्धान्त को सिद्ध किया है।



## स्तुतिविद्या/जिनशतक

स्तुतिविद्या आचार्य समन्तभद्र की एक अनुपम कृति है जिसमें चतुर्विंशति तीर्थकरों की स्तुति की गई है। जिस प्रकार स्वयंभूस्तोत्र में चतुर्विंशति तीर्थकरों की स्तुति 143 श्लोकों में की गई उसी प्रकार इसमें 116 श्लोकों में की गई है। यह स्तुतिविद्या नाम भी प्रथम श्लोक में कर्ता द्वारा की गई की प्रतिज्ञा 'स्तुतिविद्या प्रसाधये' द्वारा जाना जाता है।

यह स्तुतिविद्या अलंकृत भाषा में बड़ी ही कलात्मक ढंग से रची गई है। कहीं पर श्लोक के एक चरण को उलटकर रख देने से दूसरा चरण, पूर्वाद्ध को उलटकर रख देने से उत्तराद्ध तथा समूचे श्लोक को उलटकर रख देने से दूसरा श्लोक बन जाता है। कहीं-कहीं चरण के पूर्वाद्ध-उत्तराद्ध में भी ऐसा ही क्रम रखा गया है और कहीं-कहीं एक चरण में क्रमशः जो अक्षर हैं वे ही दूसरे चरण में हैं, पूर्वाद्ध में जो अक्षर हैं वे ही उत्तराद्ध में हैं और पूर्ववर्ती श्लोक में जो अक्षर हैं वे ही उत्तरवर्ती श्लोक में हैं परन्तु अर्थ एक-दूसरे से प्रायः भिन्न-भिन्न है। अक्षरों को सटाकर तथा अलग से रखकर भिन्न-भिन्न शब्दों तथा पदों की संरचना कर संगठित किया गया है। श्लोक संख्या 102 का उत्तरार्ध है -

### श्रीमते वर्द्धमानाय नमो नमितविद्विषे

अगले दो श्लोकों का उत्तराद्ध भी इसी अक्षर-क्रम को लिये हुए है, परन्तु वहाँ अक्षरों के विन्यासभेद और पदादिक की अलग-अलग संरचनाओं से अर्थ प्रायः बदल जाता है। कितने ही श्लोक ग्रंथ में प्रायः ऐसे हैं जिनमें पूर्वाद्ध के विषम-संख्याक अक्षरों को उत्तराद्ध के समसंख्याक अक्षरों के साथ क्रमशः मिलाकर पढ़ने से पूर्वाद्ध और उत्तराद्ध के विषम-संख्याक अक्षरों को पूर्वाद्ध से सम संख्याक अक्षरों के साथ क्रमशः मिलाकर पढ़ने से उत्तराद्ध हो जाता है। ये श्लोक 'मुरज' अथवा 'मुरजबन्ध' कहलाते हैं क्योंकि इनमें मृदंग के बन्धनों जैसे चित्राकृति को लिये हुए अक्षरों का बन्धन रखा गया है। ये चित्रालंकार थोड़े-थोड़े से अन्तर के कारण अनेक भेदों को लिये हुए हैं। कुछ पद्य चक्राकृति के रूप में अक्षर-विन्यास को लिये हुए हैं और इससे उनके कोई-कोई अक्षर चक्र में एक बार लिखे जाकर भी अनेक बार पढ़ने में आता है। इस प्रकार यह ग्रंथ शब्दालंकार, अर्थालंकार और चित्रालंकार के अनेक भेद-प्रभेदों से अलंकृत है और इसीसे दूसरी टीका करनेवाले महोदय (वसुनन्दि आचार्य) ने टीका के आरम्भ में ही इस कृति को 'समस्त गुणगणोपेता' विशेषण के साथ 'सर्वालंकारभूषिता' लिखा है। वास्तव में यह ग्रंथ अपूर्व काव्य-कौशल, अद्भुत व्याकरण-पाण्डित्य और अद्वितीय शब्दाधिपत्य को सूचित करता है। इसकी दुर्बोधता का उल्लेख इसकी संस्कृत टीकाकार ने 'योगिनामपि दुष्करा' अर्थात् योगियों के लिए भी दुर्गम कहा है। किन्तु इसी के साथ इसको 'सद्गुणाधार' बताते हुए 'सुपद्मिनी' भी कहा है। इसका अर्थ यह है कि यह रचना कोमल अंगोंवाली, सुरभिता और सुन्दरता को सूचित करनेवाली है।

ग्रंथकार आचार्य समन्तभद्र ने इस रचना का उद्देश्य ग्रंथ के प्रथम पद्य में 'आगसां जये' अर्थात् पापों को जीतना बताया है। ग्रंथ के सभी पद्यों में प्रायः इसी भाव को दर्शाया है। ग्रंथ को रुचिपूर्वक पढ़ने से उसके असली रहस्य का पता चलता है। यहां कतिपय पद्यों को उद्धृतकर उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया गया है -

प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की स्तुति -

**श्री मज्जिनपदाभ्याशं प्रतिपद्यागसां जये ।  
कामस्थानप्रदानेशं स्तुतिविद्यां प्रसाधये ॥**

- कामस्थान (इष्ट स्थान, मोक्ष) को, इन्द्रिय सुख के स्थान स्वर्गादि को, इन्द्रिय-विषयों की रोक-थाम को अथवा सांसारिक और पारमार्थिक-रूप दोनों सुखों को प्रदान करने में समर्थ केवलज्ञानादि लक्ष्मी से सम्पन्न भगवान् ऋषभदेव के पद-सामीप्य को प्राप्त करके पापों को जीतने के लिए (समन्तभद्र) इस स्तुतिविद्या की प्रसाधना करता हूँ, अर्थात् उसे सब प्रकार से सिद्ध करने के लिए उद्यत हुआ हूँ ।

यह पद्य मुरजबन्ध है ।

मुरजबन्ध में श्लोक के पहले पूर्वाद्ध को पंक्ति के आकार में लिखकर उत्तरार्द्ध को भी पंक्ति के आकार में उसके नीचे लिखा जाता है । इस अलंकार में प्रथम पंक्ति के प्रथम अक्षर को द्वितीय पंक्ति के द्वितीय अक्षर के साथ और द्वितीय पंक्ति के प्रथम अक्षर को प्रथम पंक्ति के द्वितीय अक्षर के साथ मिलाकर पढ़ना चाहिये- यही क्रम श्लोक के अन्तिम अक्षर तक जारी रखना चाहिये । यह सामान्य 'मुरजबन्ध' के लक्षण हैं । इस ग्रंथ के 2, 6, 7, 8, 9, 29,30-35, 38-42, 45, 49,58-63, 65,67-71, 73-80, 82, 99, 101-105 संख्या के श्लोक मुरजबन्ध अलंकार से वेष्टित हैं ।<sup>3</sup>

**विश्वमेको रुचामाऽको व्यापो येनार्य वर्तते ।**

**शश्वल्लोकोऽपिचाऽलोको द्वीपो ज्ञानार्णवस्य ते ॥8॥**

हे आर्य ! यह समस्त लोक और अलोक आपके केवलज्ञान का ही ज्ञेय है । आपका केवलज्ञान लोकवर्ती समस्त पदार्थों और अलोकाकाश को जानता है । अतः यह लोक और अलोक आपके ज्ञान-समुद्र के द्वीप हैं ।

इस श्लोक में आचार्य समन्तभद्र ने भगवान् के ज्ञान को महासमुद्र और विश्व को समुद्र में होनेवाला द्वीप बताया है ।

यमक-अलंकार का उदाहरण -

**गायतो महिमायते गा यतो महिमाय ते ।**

**पद्मया स हि तायते पद्मयासाहितायते ॥15॥**

- हे भगवान् ! आप स्वयं माहात्म्य को प्राप्त हैं । आपका शरीर भी लक्ष्मी से अनुपम है । विहार के समय देवलोग आपके चरणों के नीचे कमलों की रचना करते हैं । आपकी आज्ञा भव्य जीवों का हित करनेवाली है । हे प्रभो, जो आपका गुणानुवाद करता है उसकी वाणी महत्त्व को प्राप्त हो जाती है । अर्थात् उसकी वाणी अनेक अतिशयों को धारण करती है । अतः मैं भी आपके चरणकमलों को गुणों से विस्तारता हूँ, स्तुति करता हूँ ।

अजितनाथ भगवान् की स्तुति (यमकालंकार)-

सदक्षराजराजित प्रभो दयस्व वर्द्धनः ।

सतां तमो हरन् जयन् महो दयापराजितः ॥16॥

- हे भगवान ! आप उत्तम, अविनाशी और जरारहित हैं । हे अजितनाथ प्रभो ! आप क्षमा आदि उत्तम गुणों से मण्डित हैं । साधु पुरुषों के आज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाले तथा काम-क्रोधादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेवाले हैं तथा निर्दोष हैं । हे दयालु देव ! वह दिव्य तेज, केवलज्ञान मुझे भी प्रदान कीजिये ।

अभिनन्दननाथ की स्तुति -

अतमः स्वनतारक्षी तमोहा वन्दनेश्वरः ।

महाश्रीमानजो नेता स्वव मामभिनन्दन ॥21॥

- हे अज्ञानान्धकार से दूर प्रभो ! हे अभिनन्दननाथ ! जो आपको नमस्कार करते हैं उनकी आप रक्षा करते हैं । आप मोह से रहित हैं, वन्दना के ईश्वर हैं, सब के वन्द्य हैं, अनन्त चतुष्टय तथा अष्ट प्रतिहार्य से युक्त हैं, अज हैं अर्थात् भावी भव से रहित हैं । मोक्षमार्ग के नेता हैं, उपदेशक हैं, अतः स्वामी समन्तभद्र कहते हैं कि मेरी भी रक्षा कीजिये, मुझे सांसारिक दुःखों से बचाइये ।

एकाक्षर चक्रश्लोक-

नन्दनश्रीर्जिन त्वा न नत्वा नर्द्धया स्वनन्दि न ।

नन्दिनस्ते विनन्ता न नन्तानन्तोभिनन्दन ॥23॥

- हे अभिनन्दन जिन ! आप अनन्त चतुष्टयरूप समृद्धि से सुशोभित हैं । जो समृद्धिशाली पुरुष प्रसन्नचित्त होकर आपकी विभूति के साथ आपकी पूजा करता है वह अवश्य ही अनन्त हो जाता है । अर्थात् जन्म-मरण से रहित हो जाता है ।

समुद्गक यमक -

देहिनो जयिनः श्रेयः सदातः सुमते हितः ।

देहि नोजयिनः श्रेयः स दातः सुमतेहितः ॥25॥

- हे सुमति जिनेन्द्र ! आप कर्मरूप शत्रुओं को जीतनेवाले प्राणियों के उपासनीय हैं । जो प्राणी अपने कर्मरूपी शत्रुओं को जीतना चाहते हैं वे अवश्य ही आपकी उपासना करते हैं, आप सदा उनका हित करनेवाले हैं आपके द्वारा प्ररूपित आगम उत्तम हैं । आप अज हैं, जन्म-मरण की व्यथा से रहित हैं, सबके स्वामी हैं । हे दानशील, मुझको भी मोक्ष प्रदान कीजिये ।

चक्रश्लोक-दो अक्षरों से निर्मित विमलनाथ स्तुति -

नेतानतनुते नेनोनितान्तं नाततो नुतात् ।

नेता न तनुते नेनो नितान्तं ना ततो नुतात् ॥52॥

- हे पापरहित विमलनाथ जिनेन्द्र ! आप शरण में आये हुए संसारी जीवों को बिना किसी क्लेश के

शरीररहित अवस्था-सिद्ध पर्याय प्राप्त करा देते हैं, आपको नमस्कार करने से सबका स्वामी और नायक हो जाता है। अतः हे भव्यजनो ! ऐसे विमलनाथ स्वामी को तुम भी नमस्कार करो ।

पादादि यमक श्लोक-

**समस्त पतिभावस्ते समस्तपति तदद्विषः ।  
संगतोहीन भावेन संगतो हि न भास्वतः ॥72॥**

- हे परिग्रहरहित भगवन् ! यद्यपि समस्त पतिभाव (सर्व स्वामित्वभाव) आपमें और सूर्य में समानरूप से प्रकाशमान है। जिस प्रकार आप समस्त जगत के स्वामी हैं उसी प्रकार सूर्य भी समस्त जगत का स्वामी है। किन्तु फिर भी आपकी और सूर्य की समता नहीं हो सकती। सूर्य आपकी बराबरी नहीं कर सकता क्योंकि आपने अपने कर्म-शत्रुओं को सर्वथा नष्ट कर दिया है इसलिये आप उत्कृष्टतासहित हैं परन्तु सूर्य के अंधकार आदि अशुभ अब भी विद्यमान हैं। गुफा आदि स्थानों तथा रात्रि में अंधकार रहता है। इसलिए वह हीनभावेन संगतः अर्थात् अनुत्कृष्टता से सहित है। सूर्य ज्योतिष्क देवों में सबसे उत्कृष्ट-इन्द्र नहीं किन्तु प्रतीन्द्र है। इसलिए आप समस्त पतिभाव की अपेक्षा सूर्य के समान होने पर भी शत्रु सद्भाव तथा हीनभाव की अपेक्षा उसके समान नहीं हैं अपितु महान हैं।

बहुक्रियापाद द्वितीयपाद मध्य यमकाऽतालुव्यञ्जनाऽवर्ण स्वरगूढ - द्वितीयपाद सर्वतोभद्र-गत प्रत्यागताऽर्धभ्रमः—

**पारावारारवारापारा क्षमाक्ष क्षमाक्षरा ।  
वामानाममनामावारक्ष मर्द्धर्द्धमक्षर ॥84॥**

- हे प्रभो ! आपकी दिव्य ध्वनि समुद्र की गर्जना के समान अत्यन्त गंभीर है। आप समस्त पदार्थों के जाननेवाले हैं। पापों के नाश करनेवाले हैं। ज्ञानादि गुणों से बद्ध हैं। क्षयरहित हैं। हे भगवान ! आपकी क्षमा महान है और अविनाशी है। इसलिये आप मुझ वृद्ध को भी प्रसन्न कीजिये। सुशोभित कीजिये।

दो अक्षरों का श्लोक (नेमिनाथ जिन-स्तुति)-

**मानोनानामनूनानां मुनीनां मानिनामिनम् ।  
ममूनामनुनौमीमं नेमिनामानमानमन् ॥97॥**

- मैं समन्तभद्र अहंकाररहित उत्कृष्ट एवं सम्पूर्ण चारित्र के धारक पूज्य और ज्ञानवान् मुनियों के स्वामी भगवान नेमिनाथ को मन-वचन-काय से पुनः-पुनः नमस्कार करता हुआ उनकी निरंतर स्तुति करता हूँ।

इस प्रकार स्तुतिविद्या में विचित्र, एक से बढ़कर एक यमकालंकार, मुरजबन्ध, अर्द्धभ्रम, अनुलोम-प्रतिलोम श्लोक, सर्वतोभद्र, एकाक्षर, चक्रवृत्त इत्यादि अलंकार अलंकारचिंतामणि में उदाहरण रूप में दिये गये हैं। आचार्य समंतभद्र को स्तुति का व्यसन था 'सुस्तुत्यां व्यसनं'। 'शिरोनति परं' वे जिनेन्द्र-भक्ति को सर्वोपरि मानते थे। दुःख-रूपी समुद्र से पार होने में जिनेन्द्र भगवान की शरण को नौका का

सहारा मानते थे।

### आप्तमीमांसा/देवागम स्तोत्र

आप्तमीमांसा आचार्य समन्तभद्र की अनुपम कृति है। आचार्य ने इसमें जैन दर्शन के गूढ़ तत्वों का युक्तियुक्त विवेचन किया है। इसकी विस्तृत टीका स्याद्वाद-विद्यापति आचार्य विद्यानन्दी ने 'अष्टसहस्री' के नाम से रची है जो जैन दर्शन का उत्कृष्ट तर्कसंगत ग्रंथ है। इसी पर तार्किक आचार्य-शिरोमणि अकलंक स्वामी ने 'अष्टशती' टीका रची है जो विद्वानों का परम श्रद्धेय ग्रंथ है।

आप्तमीमांसा की टीका में आचार्य वसुनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती स्वामी समन्तभद्र के मनोगत भावों को इस प्रकार चित्रित करते हैं कि हे भट्टारक! संस्तवोनाम महात्म्याधिक्य कथनं, त्वदीय च महात्म्यमतीन्द्रिय मम प्रत्यक्षागोचर, अतः कथं मया स्तूयसे? हे भगवान, गुणों की अधिकता करके गुणगान करना स्तुति कही जाती है। आपके गुण अतीन्द्रिय हैं, मैं आपकी स्तुति कैसे कर सकता हूँ? इस पर मानो भगवान ने उत्तर दिया हो कि "ननु भोवत्स यथान्ये देवागमदिहेतोर्मम माहात्म्यमवबुध्य स्तवं कुर्वन्ति तथा त्वं किं न कुरुषे? अर्थात् दूसरे लोग देवों का आगमन, पुष्पवृष्टि, आदि बाह्य अतिशयों के कारण मेरे महत्व को जानकर मेरा स्तवन करते हैं, उस प्रकार तुम क्यों नहीं करते? इस प्रकार कथन करनेवाले भगवान जिनेन्द्र को अपने मनोमन्दिर में कल्पना करके परीक्षा-प्रधानी तार्किक के रूप में आचार्य कहते हैं कि मुझ तार्किक के चित्त में देवागमादि चमत्कारों के कारण आपमें महानता की कल्पना नहीं होती इसी भावना को उन्होंने अपने देवागम स्तोत्र में दर्शाया है -

**देवागमनभोयान-चामरादि-विभूतयः ।**

**मायाविष्वपि दुश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥1॥**

- देवों का आगमन, आकाश में गमन, छत्र, चमर इत्यादि विभूति का होना आदि चिह्न तो हे नाथ, मायावियों में भी देखे जाते हैं। इसलिये इन चिह्नों से आप हमारे जैसे परीक्षा-प्रधानियों की दृष्टि में महान्, पूज्य नहीं हो सकते हैं। इस पर मानो भगवान ने कहा कि इनके अतिरिक्त मेरे में अन्य विशेषताएं भी तो हैं, यथा -

**अध्यात्मं बहिरप्येषः विग्रहादिमहोदयः ।**

**दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥2॥**

मेरे शरीर की विशेषताएं हैं - मेरे शरीर में कभी पसीना नहीं आता, न मुझे भूख-प्यास लगती है, बुढ़ापा और अपमृत्यु भी नहीं आती, यह मेरे शरीर का अन्तरंग महोदय है। देवों के द्वारा पुष्पवृष्टि, गंधोदक-वृष्टि होना बहिरंग महोदय (अतिशय) हैं। इस प्रकार ये अन्तरंग और बहिरंग अतिशय सत्य हैं और दिव्य हैं जो मायावियों और इन्द्रजालियों में नहीं पाये जाते। इनके अतिरिक्त ये अतिशय मनुष्यों तथा इन्द्र-चक्रवर्ती में भी नहीं होते। अतः ये सत्य और दिव्य ही हैं। किन्तु हे भगवान्, ये अतिशय तो रागादिमान् देवों में भी पाये जाते हैं। अतः आप इन अंतरंग एवं बहिरंग अतिशयों के कारण भी पूज्य नहीं हो सकते। इस पर पुनः भगवान् कह रहे हैं कि मेरे में तीर्थकरपना है जो अन्य किसी में नहीं पाया जाता -

**तीर्थकृत्समयानां च, परस्परविरोधतः ।**

**सर्वेषामाप्तता नास्ति, कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥3॥**

(इस पर स्वामीजी कहते हैं कि) हे भगवान ! तीर्थ-प्रवर्तकों में आपस में, उनके द्वारा प्रवर्तित शास्त्रों में टकराव है, मेल नहीं है इसलिये उनमें आप्तपना नहीं घटित होता क्योंकि सुगत भी अपने आपको तीर्थकर मानता है और कपिल भी अपने आपको तीर्थ प्रवर्तक मानता है फिर भला किस को गुरु माना जाय ! अर्थात् किसी को भी नहीं ? किन्तु पुनः स्वामी जी कहते हैं कि वह आपमें नहीं है क्योंकि आपमें न तो दोष है और न आवरण है, यथा-

**दोषावरणयोर्हानि, निशेषास्त्यति-शायनात् ।**

**क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥4॥**

- जिस प्रकार सुवर्ण आदि द्रव्यों में अपने हेतु पुटपाक आदि से किट्ट-कालिमा आदि अंतरंग एवं बहिरंग मेल का सर्वथा क्षय होता देखा जाता है उसी प्रकार किसी आत्मा विशेष में अतिशय न होने से दोषों की हानि भी निःशेष देखी जाती है । और वह निर्दोषपना आपमें विराजता है -

**स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।**

**अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥6॥**

- हे भगवान ! युक्ति और आगम से आपके वचनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं आता है । इसलिये आप ही अज्ञान, राग एवं द्वेषादि से सर्वथा रहित सर्वज्ञ वीतराग हो । आपके इष्ट तत्व मुक्ति और उसके कारण संसार और संसार के कारण त्रे तत्व प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों द्वारा अबाधित सिद्ध होते हैं । इसलिये आप ही सच्चे आप्तमान हैं । सर्वज्ञत्व भी आपमें ही है, यथा -

**सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।**

**अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥5॥**

- अनुमेय (अनुमान का विषय) होने से सूक्ष्म, अन्तरित और दूरार्थ पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं, जैसे- अग्नि आदि धूम आदि के अनुमान से सिद्ध किये जाते हैं । आपके शासन में सभी तत्व निर्बाध सिद्ध होते हैं । जो आपके शासन से विरुद्ध हैं वे आप्त के अभिमान से ही दग्ध हैं क्योंकि वे सर्वथा एकान्तवादी हैं । आपका शासन अनेकान्तात्मक वस्तु की निर्बाध सिद्धि करनेवाला है ।

- (1) भावैकान्त में सर्वथा अभाव का लोप होने से वस्तु सर्वात्मक अर्थात् एकरूप अनादि, अनन्त और अस्वरूप हो जायेगी ॥9॥
- (2) प्राग्भाव न मानने पर कार्य द्रव्य घट आदि अनादि हो जायेगा और प्रध्वन्साभाव के न मानने पर वस्तु अनन्त हो जायेगी अर्थात् घट का कपालादि कार्य नहीं होगा ॥10॥
- (3) अन्योन्याभाव (इतरेतरभाव) न मानने से वस्तु सर्वात्मक हो जायेगी और अत्यन्ताभाव न मानने से सर्व प्रकार से समुदायरूप वस्तु मानी जायेगी अर्थात् जीव में अजीव और अजीव में जीव का

सद्भाव हो जायेगा, पृथक्-पृथक् नहीं हो सकेंगे।

इस प्रकार आप्तमीसांसा में आप्त की सही व्याख्या करते हुए सारे एकान्त पक्षों की डटकर आलोचना की गई है। क्षणिक एकान्त, नित्य एकान्त आदि को समझाकर अनेकान्त को दृष्टान्तपूर्वक समझाया है-

**घट-मौलि सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।**

**शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥59॥**

- घटाथी, मुकुटाथी तथा सुवर्णार्थी व्यक्ति सुवर्ण-घट के नाश होने पर क्रमशः शोक, आनन्द तथा माध्यस्थ भाव को हेतुसहित प्राप्त होते हैं। अर्थात् घड़े को चाहनेवाला घड़े के फूट जाने पर रोता है, सुवर्ण का मुकुट बन जाने पर मुकुट चाहनेवाला प्रसन्न होता है किन्तु सुवर्ण चाहनेवाला न रोता है न हंसता है अपितु मध्यस्थ भाव को धारण करता है। इस प्रकार ग्रंथ में विविध विषय लिये गये हैं, जैसे द्रव्य-पर्याय, उपायतत्त्व, उपेयतत्त्व, दैव-पुरुषार्थ, पुण्य-पाप, मोक्ष, प्रमाण, स्याद्वाद आदि सभी विषयों पर खुलकर विचार प्रकट किये गये हैं।

### युक्त्यनुशासन

युक्त्यनुशासन भी एक स्तुतिपरक रचना है। यह रचना 64 पद्यों की महत्वपूर्ण दार्शनिक कृति है। देवागमस्तोत्र में युक्तिपूर्वक आप्त और आप्त के शासन (उपदेश) की मीमांसा करके आप्त वीर (महावीर) को, आप्तशासन-वीर के शासन को सिद्ध किया है। इस कसौटी पर कसे जाने के उपरान्त ही वीर और उसके स्याद्वाद-शासन की स्तुति (गुणानुवाद) करने के उद्देश्य से ही स्वामी समन्तभद्र ने इस युक्त्यनुशासन की रचना की है। टीका के अनुसार यह ग्रंथ दो प्रस्तावों में विभक्त किया गया है। पहला प्रस्ताव कारिका 1 से 39 तक तथा दूसरा 40 से 64 तक है।

1. प्रथम प्रस्ताव में स्तुतिकार ने देवागम के द्वारा सिद्ध-निर्दोषता, सर्वज्ञता और आगमेशिता इन तीन गुणों से विशिष्ट वर्द्धमान वीर की स्तुति करने की प्रतिज्ञा की है।
2. दूसरी में स्तुति का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा है कि लोक में उसे स्तुति कहा गया है जिसमें यथार्थता को लोप करके बढ़ा-चढ़ाकर गुणोत्कर्ष किया जाय। किन्तु हे प्रभो! आप तो अनन्त गुणों के समुद्र हैं, आपके गुणों को अंशमात्र भी हम नहीं कह सकते तब आपकी स्तुति कैसे की जाय! किन्तु फिर भी धृष्टता का अवलम्बन लेकर भक्तिवश मैं (समन्तभद्र) आपकी स्तुति करता हूँ। हे भगवान, आपने ज्ञानावरण-दर्शनावरण को क्षयकर शुद्धि प्राप्त की है। अन्तराय का सर्वथा नाश करके अनन्त शक्ति और मोह का नाश करके अनन्त सुख प्राप्त किया है। इसलिये आप ही मोक्षमार्ग के नेता और शास्ता हो।

जब वीर का महान् होना तथा उसके शासन का महान् होना सिद्ध हो चुकता है तो फिर उसका प्रभाव अर्थात् एकाधिपत्य सब पर क्यों नहीं है? इसका उत्तर आचार्य इस प्रकार देते हैं -

**कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाशयो वा ।**

**त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी, प्रभुत्वशक्तेरपवाद हेतुः ॥5॥**

- हे नाथ, आपके शासन में एकाधिपतित्व-रूप लक्ष्मी के अधिपति होने की शक्ति का अपवाद एक तो यह है कि यह कलिकाल है और दूसरा कारण वक्ता के वचन, उपदेश की अकुशलता है और तीसरे श्रोताजन का कलुषित हृदय है। इस प्रकार बाह्य और अभ्यंतर कारणों से ही वीर का शासन सबके द्वारा ग्राह्य नहीं है।

हे भगवन् । आपका शासन अद्वितीय है -

**दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं नयप्रमाणप्रकृताञ्जसार्थम् ।**

**अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥6॥**

- हे वीरजिन । आपका यह अनेकान्तरूप शासन अद्वितीय है। क्योंकि इसमें दया, दम, त्याग और समाधि की तत्परता है। नय और प्रमाण से इसमें द्रव्य, पर्याय-रूप जीवादिक तत्त्वों का अविरोधरूप से सुनिश्चित असम्भषद् बाधकरूप से निर्णय किया गया है ! हे भगवन् ! आपके मत में सर्वथा शब्द को स्थान नहीं है। न तो सर्वथा भेद और न सर्वथा अभेद ही वस्तु है अपितु अपेक्षाकृत भेद और अभेद है।

**अभेद-भेदात्मकमर्थं तत्त्वम्, तव स्वतंत्राऽन्यतरत्त्वपुष्पम् ।**

**अवृत्तिमत्वात् समवायवृत्तेः संसर्गहानेः सकलार्थहानिः ॥7॥**

- हे वीर प्रभो ! आपके द्वारा प्रतिपादित वस्तु-स्वरूप अभेद और भेद (एक-अनेक) दोनों रूप हैं, न केवल अभेद (द्रव्य) और न केवल भेद (पर्याय) रूप ही है अपितु भेदाभेद-रूप है। केवल भेद और केवल अभेद आकाशकुसुम-समान निरर्थक है। आगे की 8 से 34 कारिकाओं में सांख्यमत के अभेदवाद, नित्यवाद, सौत्रांतिक बौद्धों के भेदवाद, क्षणिकवाद, विज्ञानाद्वैतवाद, बौद्धों के विज्ञानवाद और माध्यमिक बौद्धों के शून्यवाद की विस्तृत एवं कड़ी समीक्षा की गई है। आगे 35-36वीं कारिका में चार्वाक के भौतिकवाद की समीक्षा की गई है। 37 से 39 तक प्रवृत्तिरत अनाचार समर्थक क्रियाओं की आलोचना भी की गई है। पुनः 40 से 64 तक वीर जिन के द्वारा प्ररूपित वस्तुतत्त्व का सयुक्तिक विवेचन किया गया है। वस्तुतः इन सभी कारिकाओं में वीरशासन में वस्तु का स्वरूप किस प्रकार व्यवस्थित है, इसी का मुख्य-रूप से प्रतिपादन है। अन्य एकान्तवादों में स्वीकृत वस्तु-स्वरूप को यहां गौण किया गया है। जैन दर्शन में सामान्य और विशेष एक और अनेक, द्रव्य और पर्याय, नित्य और अनित्य का कैसा स्वरूप प्रतिपादित किया गया है उसे पूर्णरूपेण दर्शाया गया है।

इस प्रकार युक्त्यनुशासन में भगवान महावीर की स्तुति के साथ जैन दर्शन का महत्वपूर्ण विवेचन किया गया है।

### **रत्नकरण्ड श्रावकाचार**

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्रावकाचार-परम्परा में पहला श्रावकाचार है। यह स्वामी समन्तभद्र की सारगर्भित कृति है। आचार्य ने अत्रती श्रावक से लेकर व्रती श्रावक की समस्त क्रियाओं का प्रतिपादन



किया है। इस श्रावकाचार में 150 श्लोक हैं जिनमें सम्यग्दर्शन का स्वरूप, सच्चे देव-शास्त्र और गुरु का स्वरूप बताकर सम्यग्ज्ञान और उसके अंगों को बताया है। सम्यक् चारित्र में व्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का, बारह व्रतों का, उनके 60 अतिचारों का, सम्यग्दर्शन के पांच और सल्लेखना के पांच अतिचारों का वर्णन किया है।) अन्त में सम्यग्दर्शनरूप लक्ष्मी की प्राप्ति की प्रार्थना करते हुए ग्रंथ को समाप्त किया है। यह ग्रंथ श्रावकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

प्रस्तुत श्रावकाचार में वर्द्धमान भगवान को नमस्कार करके मंगलाचरण किया है जिसको प्रायः सभी स्वाध्याय-प्रेमी मंगलाचरण के रूप में प्राथमिकता देकर शास्त्र प्रारम्भ करते हैं -

**नमः श्रीवर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने ।  
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विधा दर्पणायते ॥1॥**

- मैं उस भगवान महावीर को नमस्कार करता हूँ जिन्होंने अन्तरंग एवं बहिरंग-रूप समस्त पापों को नाश कर दिया है तथा जिनका केवलज्ञान लोकसहित अलोक को दर्पण-सदृश देखता है।

ग्रंथ के बनाने का उद्देश्य और धर्म का सामान्य लक्षण इस प्रकार बताया है -

**देश्यामि समीचीनं धर्मं कर्म निवर्हणम् ।  
संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥2॥**

स्वामी समन्तभद्र कहते हैं कि मैं उस समीचीन धर्म को कहता हूँ जो संसार के जीवों को कर्मजनित दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख में स्थापित करता है।

पुनः धर्म का विशेष लक्षण (पूर्वाचार्यों द्वारा या तीर्थकरों द्वारा कथित) -

**सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्म-धर्मेश्वरा विदुः ।  
यदीय प्रत्यनीकानि, भवन्ति भवपद्धतिः ॥3॥**

ईश्वर/तीर्थकरों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र को धर्म का लक्षण बताया है। इससे विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को संसार के दुःखों में फंसानेवाली भव की (संसार की) पद्धति बताया है।

सच्चे देव-शास्त्र और गुरु का तीन मूढतारहित, आठ मदरहित और आठ अंगोंसहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

सच्चा देव (आप्त) अठारह दोषरहित, वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होता है। इनके बिना सच्चा आप्तपन नहीं होता। क्षुधा, तृषा, जरा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह, आश्चर्य, अरति, खेद, शोक, निद्रा, चिंता, स्वेद इस प्रकार अठारह दोष जिसमें नहीं होते वह वीतराग कहलाता है।

सच्चा शास्त्र वह है जो सच्चे देव का कहा हुआ हो; जो प्रत्यक्ष, अनुमान आदि के द्वारा खण्डित न किया जा सके तथा यथार्थ तत्व का उपदेष्टा हो और मिथ्यामार्ग को खण्डित करनेवाला हो। सच्चे गुरु

का लक्षण बताते हुए आचार्य कहते हैं कि-

**विषयाशावशातीतो, निरारम्भोऽपरिग्रहः ।**

**ज्ञानध्यानतपोरत्नस्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥10॥**

- पांचों इन्द्रियों के विषयों की इच्छा से रहित हो, कृषि-वाणिज्य आदि आरम्भ का त्यागी हो, बाह्य दश और अन्तरंग चतुर्दश - ऐसे चौबीस प्रकार के परिग्रह का त्यागी हो, ज्ञान-ध्यान और तप में लीन हो वह तपस्वी सच्चा गुरु कहलाता है ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन का लक्षण और उसकी प्राप्ति का उपाय बताकर सम्यग्दर्शन के निःशंकित, निकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ऐसे आठों अंगों का विवेचन रत्नकरण्ड में समझाया गया है । लोकमूढता, देवमूढता, और गुरुमूढता ऐसे तीन मूढताओं का तथा ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठों का मद करने से सम्यग्दर्शन दूषित होता है । इनका विवेचन तथा छः अनायतनों का स्पष्टीकरण भी ग्रंथ में किया गया है । सम्यग्दर्शन की प्रशंसा में कहा गया है कि जैसे बीज के अभाव में वृक्ष नहीं हो सकता वैसे सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और उनका फल नहीं हो सकता । इस प्रकार स्वामीजी ने सम्यग्दर्शन की प्रशंसा में अनेक श्लोक लिखकर प्रथम परिच्छेद पूर्ण किया ।

द्वितीय परिच्छेद में सम्यग्ज्ञान का विवेचन किया गया है । सम्यग्ज्ञान का लक्षण बताते हुए कहा है -

**अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।**

**निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥42॥**

- जो वस्तु-स्वरूप को न्यूनतारहित, अधिकतारहित और विपरीततारहित, सन्देहरहित, जैसा का तैसा जानता है वह सम्यग्ज्ञान है ।

इसी सम्यग्ज्ञान के विषय-विस्तार को उजागर करनेवाले प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग - चारों अनुयोगों का लक्षणसहित विस्तार करना ग्रंथ की विशेषता है ।

तृतीय परिच्छेद में गृहस्थ के चारित्र का वर्णन किया गया है । राग-द्वेष की निवृत्ति होने में ही हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह की निवृत्ति बताकर सब का पृथक्-पृथक् लक्षण लिखकर श्रावक के मूल गुणों को बताया है । रागद्वेष की निवृत्ति ही सच्चा चारित्र है -

**रागद्वेष निवृत्तेर्हिंसादि निवर्तनाकृता भवति ।**

**अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥48॥**

- रागद्वेष की निवृत्ति हो जाने पर हिंसादि पांचों पाप समाप्त हो जाते हैं । इससे सारी अपेक्षाएं निवृत्त हो जाती हैं । आचार्य कहते हैं कि जिसे किसी भी प्रकार की अपेक्षा नहीं है वह राजा की सेवा क्यों करेगा ? अर्थात् राग-द्वेष के दूर हो जाने पर व्यक्ति स्वतंत्र हो जाता है । किसी के अधीन नहीं रहता है ।

आचार्य समन्ताभद्र ने श्रावक के अष्ट मूलगुण निम्न प्रकार बताये हैं -

**मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम् ।**

**अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहीणां श्रमणोत्तमाः ॥66॥**

- मद्यत्याग, मांसत्याग, मधु (शहद) - त्याग के साथ अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाणानुव्रतपालन करना, ये श्रावक के आठ मूल गुण हैं।

चतुर्थ परिच्छेद में स्वामीजी ने दिग्ब्रत, अनर्थदण्ड त्यागव्रत, भोगोपभोग परिमाण - इन तीन गुणव्रतों का और इनके अतिचारों का विस्तार से वर्णन किया है।

महाव्रत का लक्षण -

**पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवचः कायैः ।**

**कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम् ॥72॥**

- हिंसादिक पांचों पापों का मन, वचन, काय से तथा कृत-कारित और अनुमोदना से त्याग करना छोटे गुणस्थान से लेकर ऊपर के सभी गुणस्थानवर्ती साधुओं के महाव्रत कहलाते हैं।

पंचम परिच्छेद में सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग-परिमाण और अतिथिसंविभाग-ऐसे चार शिक्षाव्रतों का वर्णन; दान का लक्षण, नवधा भक्ति तथा पूजा और पूजा के फल का वर्णन किया गया है।

छठे परिच्छेद में सल्लेखना (समाधिमरण) तथा उसके अतिचारों का वर्णन किया गया है। इसी के साथ मोक्ष का लक्षण भी दिया है -

**जन्मजरामयमरणैः-शौकैर्दुःखर्भयैश्च परिमुक्तम् ।**

**निर्वाणं शुद्धसुखं, निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥131॥**

- जन्म, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, शोक, दुःख और भय से रहित अविनश्वर और सच्चे सुखसहित, सर्वकर्मरहित, आत्मा की विशुद्धि को मोक्ष कहते हैं।

सप्तम परिच्छेद में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन है - दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्ति-त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमति-त्याग और उद्दिष्टत्याग - इस प्रकार सात परिच्छेदों में 150 श्लोकयुक्त रत्नकरण्ड श्रावकाचार स्वामी समन्तभद्र की उत्कृष्ट कृति है।

गोधों का चौक

हल्दियों का रास्ता

जौहरी बाजार, जयपुर-302003

1. स्तुतिविद्या की प्रस्तावना, लेखक श्री जुगलकिशोर मुख्तार।
2. श्री जुगलकिशोर मुख्तार को दिगम्बर जैन पंचायती मंदिर देहली के पुराने, जीर्ण-शीर्ण गुटके से प्राप्त हुआ है।
3. अनुवादक पं. श्री पन्नालाल जी जैन साहित्याचार्य 'वसन्त' द्वारा प्राप्त।

## सारस्वताचार्य समन्तभद्र : व्यक्तित्व और कर्तृत्व

- डॉ. आदित्य प्रचण्डिया



सारस्वताचार्य समन्तभद्र असाधारण व्यक्तित्व के स्वामी तथा श्रुतधर आचार्य थे। जैनेन्द्र व्याकरण में समागत 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्यं' (सूत्र-5.4.168) के उल्लेख से आचार्य समन्तभद्र आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दी) से पूर्ववर्ती प्रमाणित होते हैं। पंडित सुखलाल जी ने समन्तभद्र पर बौद्ध विद्वान धर्मकीर्ति का प्रभाव मानकर उनको धर्मकीर्ति से उत्तरवर्ती माना है। आचार्य समन्तभद्र के ग्रन्थों में कुमारिल भट्ट की शैली का अनुकरण है। कुमारिल भट्ट ई. सन् 625 से 680 के विद्वान माने गए हैं। इस आधार पर आचार्य समन्तभद्र का समय वीर निर्वाण की 12वीं सदी अर्थात् विक्रम की 7वीं सदी अनुमानित होता है। स्वर्गीय पंडित जुगलकिशोर मुख्तार आदि विद्वान आचार्य समन्तभद्र का समय विक्रम की द्वितीय शताब्दी एवं अनेक इतिहासकार उनका सत्ता-समय वि. की 5वीं शताब्दी मानने के पक्ष में हैं। आचार्य समन्तभद्र ने अपने को कांची का नग्नाटक कहा है - 'काञ्च्यां नाग्नाटकोऽहं' (आराधनासार, नेमिचन्द्रवर्णी)। काञ्ची मैसूर प्रान्त में है और वर्तमान में वह काञ्जीवरं नाम से प्रसिद्ध है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य समन्तभद्र ने दिगम्बर दीक्षा ग्रहण की थी और मुनिजीवन में काञ्जी से उनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में अवश्य था। आचार्य समन्तभद्र दक्षिण के क्षत्रिय राजकुमार थे। वे फणिमण्डलान्तर्गत (तमिलनाडु) उरगपुर नरेश के पुत्र थे- 'इति फणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्री स्वामि समन्तभद्र मुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्' (आप्तमीमांसा)। उरगपुर चौल राजाओं की सबसे प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी थी। आचार्य समन्तभद्र के 'स्तुतिविद्या' के 116 वें पद्य की चित्र-रचना के सातवें वलय में 'शान्तिवर्म' नाम का बोध होता है। इससे यह प्रतिभाषित है कि शान्तिवर्म स्वयं समन्तभद्र का मुनिजीवन से पूर्व का नाम रहा होगा। मुनिजीवन

में प्रवेश पाकर आचार्य समन्तभद्र गणियों के गणी कहलाये। स्वामी शब्द से पहचाने गए और श्रमण संघ के महान गौरवार्ह आचार्य सिद्ध हुए।

आचार्य समन्तभद्र अद्भुत प्रतिभा के धनी थे। ज्ञान के भण्डार थे। आचार्य श्री समन्तभद्र संस्कृत, प्राकृत, कानड़ी तथा तमिल आदि भाषाओं के प्रखर विद्वान थे। संस्कृत भाषा पर उनका विशेष अधिकार था। सरस्वती की अपार कृपा उन पर बरस रही थी - “सरस्वतीस्वैरविहाभूमयः समन्तभद्र प्रमुखा मुनीश्वराः” (गद्यचिन्तामणि)। दर्शनशास्त्र, न्यायशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, काव्य, पुराण, इतिहास आदि तत्कालीन भारतीय विद्याओं के विविध विषय उनके आत्मगत हो गए थे। आचार्य समन्तभद्र स्याद्वाद के संजीवक आचार्य थे। उनके उत्तरवर्ती विद्वान् आचार्यों ने आचार्यश्री को स्याद्वाद विद्यापति, स्याद्वाद शरीर- “श्रीमत्समन्तभद्राचार्यस्य त्रिभुवन लब्ध जयपताकस्य प्रमाणलयचक्षुषः स्याद्वाद शरीरस्य देवागमाख्याकृतेः संक्षेपभूतं विवरणं कृतं श्रुत विस्मरण खीलेन वसुनंदिना जडमतिनाऽत्योपकाराय” (वसुनंदाचार्य कृत देवागम वृत्ति), स्याद्वाद विद्यागुरु तथा स्याद्वाद अग्रणी- “स श्री स्वामि समन्तभद्र यतिभृद्भूयाद् विभुर्भानुमान्, विद्यानन्दन प्रदोऽनघधियां स्याद्वादमागग्रणीः” (अष्टसहस्री प्रशस्तिपद्य) का सम्बोधन देकर अपना मस्तक झुकाया। भट्ट अकलंक ने समन्तभद्र को भव्य जीवों के लिए अद्वितीय नेत्र कहा है एवं स्याद्वादमार्ग का विशेषण दिया है- “भव्यैकलोकनयनं परिपालयन्तं स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम्” (अष्टशती)। आदिपुराण के कर्ता जिनसेन के शब्दों में-

कवीनां गमकानाञ्च वादिनां वाग्मिनामपि ।

यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥43॥

नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे ।

यद्ब्रह्मवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः ॥44॥

अर्थात् कवित्व, गमकत्व, वादित्व, वाग्मित्व ये चार गुण उनके व्यक्तित्व के अलंकारभूत थे। अपने इन विरल गुणों के कारण वे काव्य लोक के उच्चतम अधिकारी, आगम मर्मज्ञ, सतत शास्त्रार्थ प्रवृत्त और वाग्पटु थे। अधिक क्या ? आचार्य समन्तभद्र कवियों के लिए विधाता थे। उनके वचन-वज्रपात से मिथ्यात्व के भीमकाय शैल चूर-चूर हो जाते थे।

आचार्य समन्तभद्र मुनिचर्या के नियमों में सतत जागरूक थे। कठोर तपश्चर्या के पालक थे एवं महान कष्टसहिष्णु भी थे। स्वयंभूस्तोत्र में आचार्य समन्तभद्र स्वयं कहते हैं-

आचार्योहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं,

दैवजोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहं ।

राजन्नस्यां जलधि वलया मेखलायामिलाया-

माज्ञासिद्धः किमति बहुना सिद्ध सारस्वतोऽहं ॥3॥

अर्थात् स्वामी समन्तभद्र आचार्य, कवि, वादिराट, पण्डित, दैवज्ञ (ज्योतिषज्ञ), वैद्य, मान्त्रिक, तांत्रिक, आज्ञासिद्ध और सिद्ध सारस्वत थे। आसमुद्रात पृथ्वी पर उनका आदेश अनतिक्रमणीय था और

सरस्वती उनके कंठों पर विराजमान थीं। समन्तभद्र आचार्य कब और किन परिस्थितियों में बने, किसके द्वारा उनको आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया - इस संदर्भ में कोई उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु उक्त छंद में 'आचार्योऽहं' यह प्रथम विशेषण उनके आचार्य होने का समर्थन करता है। इसी छंद में ही आज्ञासिद्ध विशेषण शब्द संसार पर उनके पूर्ण आधिपत्य का सूचक है और सिद्ध सारस्वत का विशेषण उनकी अप्रतिहतवाद शक्ति का परिचायक है। आचार्य समन्तभद्र वादकुशल ही नहीं वादरसिक आचार्य भी थे जैन धर्म के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करते और दर्शनान्तरीय विद्वानों से जमकर लोहा लेते। अपने समय के प्रसिद्ध ज्ञानकेन्द्रों में, जनपदों में एवं सुदूर प्रदेशों में पहुँचकर उन्होंने शास्त्रार्थ किए। दक्षिण के दिग-दिगन्त उनके शास्त्रार्थ विजय-उद्घोषों से ध्वनित थे। आचार्य समन्तभद्र एक बार उद्भट विद्वानों के प्रमुख केन्द्र करहाटक में पहुँचकर राजसभा में खड़े होकर बोले -

पूर्व पाटलिपुत्र मध्य नगरे भेरी मयाताडिता,  
पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क-विषये-काँचीपुरे-वैदिशे।  
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,  
वादार्यो विचराम्यहं नरपतेः शार्दूल विक्रीडितं।

(श्रवणवेलगोल शिलालेख सं. 54)

अर्थात् हे राजन् ! सर्वप्रथम मैंने पाटलिपुत्र में भेरी-वादन-पूर्वक शास्त्रार्थ किया। तत्पश्चात् मालव, सिन्धु, ठक्क प्रदेश, काञ्चीपुर (काञ्जीवरम) और वैदिश में इसी प्रकार शास्त्रार्थ करता हुआ मैं विद्याकेन्द्र करहाटक में पहुँचा हूँ। शास्त्रार्थ हेतु मैं शार्दूल की तरह परिभ्रमण कर रहा हूँ। इस प्रकार प्रस्तुत उल्लेख में समागत देशों के नामों से स्पष्ट है कि आचार्य समन्तभद्र के 'वादक्षेत्र' दक्षिण के अतिरिक्त भारत के अन्य प्रदेश भी थे।

आचार्य समन्तभद्र की कवित्व शक्ति निरूपमेय थी। उनके स्तोत्रकाव्यों में शब्द और अर्थ दोनों की गम्भीरता परिलक्षित होती है। काव्यचमत्कार की दृष्टि से उनकी पद्यावलियाँ उत्तरवर्ती रचनाकारों के लिए मार्गदर्शक बनी हैं। प्रबन्धकाव्य न होते हुए भी अनेक काव्य-श्लोकों में अनेक स्थलों पर प्रौढ़ प्रबन्धात्मकता के अभिदर्शन होते हैं। उनके 'स्तुतिविद्या' के कई पद्यों को अनुलोमप्रतिलोम किसी क्रम से पढ़ा जा सकता है और दोनों ही प्रकार के क्रम में शब्द चमत्कार और अर्थ चमत्कार पाठक को मनोमुग्ध कर देता है। आचार्य समन्तभद्र की वादकुशलता और कवित्वशक्ति की उत्तरवर्ती आचार्यों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है यथा-

समन्तभद्रस्य चिराय जीयाद्वादीभवज्जांकुश सूक्तिजालः  
यस्य प्रभावात्मकलावनीयं वन्ध्यास दुर्वादुक वार्त्तयापि।

(श्रवणवेलगोला, शिलालेख नं. 105)

वादिराजसूरि ने 'यशोधरचरित' में आचार्य समन्तभद्र को 'काव्यमणियों का पर्वत', वर्धमानसूरि ने 'वराहचरित' में 'महाकवीश्वर' तथा 'सुतर्क शास्त्रामृत सागर' एवं प्रशस्त टीकाकार आचार्य हरिभद्र ने

‘अनेकांतजयपताका में वादिमुख्य’ विशेषण से विशेषित किया है। ‘हरिवंशपुराण’ के प्रणेता जिनसेन ने “वचः समन्तभद्रस्यवीरस्येव विजुंभते” इस वाक्य में आचार्य समन्तभद्र के वचनों को वीरवाणी के समान आदर प्रदानकर उनके महत्व को शिखर तक पहुँचा दिया है। इसके अतिरिक्त अजितसेन सूरी, सकलकीर्ति आदि मनीषियों ने भी आचार्य समन्तभद्र की प्रतिभा का लोहा माना है।

आचार्य समन्तभद्र आद्य स्तुतिकार थे और बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, वेदान्त आदि विभिन्न दर्शनों के ज्ञाता थे। सभी दर्शनों की समीक्षा करते हुए उन्होंने उच्चकोटि के साहित्य का प्रणयन किया। उनके साहित्य का परिचयात्मक विवरण इस प्रकार है-

### आप्तमीमांसा

आचार्य समन्तभद्र की प्रथम रचना ‘आप्तमीमांसा’ का आरम्भ ‘देवागम’ शब्द से हुआ है। इसमें दस परिच्छेद और एक सौ चौदह कारिकाएँ हैं। एकान्तवादी दृष्टिकोणों का समुचित निरसन और आप्त पुरुषों के आप्तत्व की सम्यक् मीमांसा के कारण इस कृति का नाम ‘आप्तमीमांसा’ पड़ा। यह ग्रंथ जैनदर्शन का आधारभूत ग्रंथ है। आचार्य अकलंक ने इस ग्रंथ पर अष्टशती नामक भाष्य लिखा है। अष्टशती भाष्य पर आचार्य विद्यानंद ने ‘अष्टसहस्री’ नामक विशाल टीका लिखी है। यशोविजयजी ने अष्टसहस्री पर संस्कृत टीका और आचार्य वसुनंदि ने संक्षिप्त देवागम वृत्ति की रचना की है। पण्डित जयचंद छाबड़ा की एक हिन्दी टीका भी प्रकाशित है।

### स्वयंभूस्तोत्र

इसमें चतुर्विंशति तीर्थकरों की स्तुति होने के कारण ग्रंथ का दूसरा नाम ‘चतुर्विंशति जिनस्तुति’ भी है। एक सौ तियालीस छंदोंवाली इस रचना की शैली सरस और भाषा अलंकारपूर्ण है। युक्तिपूर्ण भावाभिव्यञ्जना दर्शनीय है। दर्शनप्रधान तथा स्तुतिप्रधान ग्रंथ में पौराणिक और ऐतिहासिक तथ्यों का समावेश रचनाकार के बहुमुखी ज्ञान का परिचायक है। विषयवर्णन की स्पष्टता इस कृति की अतिरिक्त विशेषता है। स्वतः बोध होने के कारण तीर्थकरों को स्वयंभू कहा जाता है। प्रस्तुत स्तोत्र में तीर्थकरों की स्तुति है अतः इस कृति का नाम ‘स्वयंभू स्तोत्र’ है।

### युक्त्यनुशासन

युक्त्यनुशासन अर्थगरिमा से परिपूर्ण दर्शनिक ग्रंथ है। चौसठ पद्योंवाले इस ग्रंथ की शैली संक्षिप्त सूत्रात्मक एवं गंभीर है। इसमें आप्तस्तुति के साथ विविध दर्शनिक हस्तियों का पर्याप्त विवचन एवं स्व-पर मत के गुण-दोषों का सयौक्तिक निरूपण है। इसकी भावना और शब्द संयोजना को देखने से यह प्रतीत होता है कि यह रचनाकार की प्रौढ़ रचना है।

### स्तुतिविद्या

यह स्तवनाप्रधान ग्रंथ है। इसके चतुर्थविलय में ‘जिनस्तुतिशतं’ नाम का बोध होता है। इससे प्रतीत होता है ‘स्तुतिविद्या’ कृति का ही दूसरा नाम ‘जिनस्तुतिशतक’ है। शब्दालंकार और चित्रालंकार दोनों दृष्टियों से यह ‘स्तुतिविद्या’ ग्रंथ महनीय है। आचार्य समन्तभद्र ने एक ही अक्षर के द्वारा पूरे श्लोक की रचनाकर अद्भुत सामर्थ्य का परिचय दिया है -

ततोतिता तु तेतीत स्तोतृतोतीतितोतृतः  
ततोऽतातिततोतोते ततता ते ततो ततः ॥13॥

एक ही अक्षर द्वारा रचित इस श्लोक में अनेक अर्थ प्रतिध्वनित हैं। कई पद्य ऐसे भी हैं जिनको अनुलोम क्रम से पढ़ने पर उसका अर्थबोध भिन्न प्रकार का होता है और प्रतिलोम क्रम से पढ़ने पर उसका अर्थ-बोध कुछ और ही हो जाता है यथा

#### अनुलोम क्रम

रक्ष माक्षर वामेश शमीचारु रुचानुतः ।  
भो विभोन शजाजोरूनघ्रेन विजरामय ॥86॥

#### प्रतिलोम क्रम

यमराज विनघ्रेन रूजोनाशन भो विभो ।  
तनु चारु रुचामीश शमेवारक्ष माक्षर ॥87॥

इस प्रकार पूरी कृति का शब्द-विन्यास ही अलंकृत भाषा में प्रस्तुत है।

#### रत्नकरण्ड श्रावकाचार

इस कृति में सात अध्याय हैं और एक सौ पचास पद्य हैं। ग्रंथ की शैली सरस है और भाषा अर्थ-गरिमा से परिपूर्ण है। गुणरत्नों से भरा पिटारा है अतः इस ग्रंथ का नाम 'रत्नकरण्ड' उपयुक्त है। कृति में अपने विषय का प्रतिपादन समीचीन है। सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र- इस रत्नत्रयी का भी पर्याप्त विवेचन इस ग्रंथ में समाहित है। ग्रंथ के प्रथम अध्याय में अष्टांगसहित सम्यक्दर्शन का, द्वितीय अध्याय में सम्यक्ज्ञान का, तृतीय अध्याय में सम्यक्चारित्र का (मुनि आचारसंहिता एवं श्रावक आचारसंहिता), चतुर्थ अध्याय में दिग्ब्रत, अनर्थ दण्डव्रत एवं भोगोपभोग व्रत-श्रावक के इन तीन गुणव्रतों का, पंचम अध्याय में शिक्षाव्रत का, छठे अध्याय में सल्लेखना का और सातवें अध्याय में श्रावक प्रतिमा का पर्याप्त विवेचन है। श्रावक-आचार सम्बन्धी सामग्री प्रस्तुत करनेवाले ग्रंथों में यह ग्रंथ प्राचीन माना गया है। वादिराज सूरि ने इस ग्रंथ को अक्षय सुखावह की संज्ञा प्रदान की है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने इस ग्रंथ पर संस्कृत टीका लिखी है जो वर्तमान में प्रकाशित है।

वस्तुतः आचार्य समन्तभद्र के ग्रंथों में गंभीर दार्शनिक दृष्टियां हैं एवं आस्था का झलकता निर्झर है। आराध्य के चरणों में अपने को सर्वतोभावेन समर्पित करके समन्तभद्र स्वामी ने अपनी श्रद्धा को सुश्रद्धा कहा है। जैन दर्शन को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य समन्तभद्र को है।

मंगल कलश

394, सर्वोदय नगर,

आगरा रोड, अलीगढ़-202 001 (उ.प्र.)



## पुनाति चित्तं

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे,  
न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।  
तथापि ते पुण्यगुण स्मृतिर्नः,  
पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥57॥

- स्वयंभूस्तोत्र

- हे भगवान ! पूजा-वन्दना से आपका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि आप वीतरागी हैं। निन्दा से भी आपका कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि आप विवान्तवैर (वैररहित) हैं। फिर भी आपके पुण्य गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पाप-मलों से पवित्र करता है।

स्तुवाने कोपने चैव समानो यन्न पावकः ।

भवानेकोपि नेतेव त्वमाश्रेयः सुपाश्वकः ॥29॥

- जिनशतक

- हे सुपाश्व भगवान ! आप स्तुति करनेवाले और निन्दा करनेवाले दोनों के विषय में समान हैं। रागद्वेष से रहित हैं। सबको पवित्र करनेवाले हैं, सबको हित का उपदेश देकर कर्म-बन्धन से छुड़ानेवाले हैं। अतः आप एक असहाय (दूसरे पक्ष में प्रधान) होने पर भी नेता की तरह सबके द्वारा आश्रयणीय हैं, सेवनीय हैं।

- अनु. - पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

## कलिकाल गणधर : आचार्य समन्तभद्र

- डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल

भगवान महावीर की आचार्य-परम्परा में स्वामी समन्तभद्र का अतिविशिष्ट स्थान होने के कारण परवर्ती आचार्यों ने उन्हें कलिकाल गणधर, भारत-भूषण, कविन्द्र भास्वान, आद्यस्तुतिकार, भावी तीर्थकर, भद्रमूर्ति और जिन-शासन के प्रणेता जैसी अति सम्मानित उपाधियोंसहित स्मरण किया है। स्याद्वादी स्वामी समन्तभद्र का उदय उस समय हुआ जब भारतीय दार्शनिक-क्षितिज में अश्वघोष, मातृचेट, नागार्जुन, कणाद, गौतम और जैमिनी जैसे मनीषी वस्तु-स्वरूप के अज्ञान को सर्वांश कह रहे थे। ऐसे संक्रमण-काल में उन्होंने अपनी कालजयी कृति आप्तमीमांसा में ईश्वर, कपिल, सुगत और परम पुरुष ब्रह्मा की तार्किक परीक्षाकर वीतराग-सर्वज्ञ अरहंत-भगवान को सच्चा आप्त (ईश्वर) घोषित किया। स्वामी समन्तभद्र ने सर्वज्ञ (तीर्थकर) - परीक्षा एवं उनकी स्तुति में भक्तिपरक, गूढ़-दार्शनिक एवं तार्किक रचनाएं लिखकर सर्वज्ञता, अनेकान्त, दया (अहिंसा), स्याद्वाद एवं अपरिग्रह की जन-प्रतिष्ठा की। उनके इस अद्भुत योगदान को दृष्टिगत कर परवर्ती आचार्यों/विद्वानों ने अपनी रचनाओं में स्वामी समन्तभद्र को अनेक उपमाओं से विभूषित कर अति श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है।

भगवज्जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण में उन्हें महान कविबंध, वादी, वाग्मी और गमक कहा है। जो वाद-विवाद में विजय प्राप्त करे उसे वादी कहते हैं। जो अपनी वाक्पटुता से दूसरों को अपना बना ले उसे वाग्मी कहते हैं और जो दूसरे विद्वानों की रचनाओं के रहस्य को सुगमतापूर्वक समझने में चतुर/प्रवीण हो उसे गमक कहते हैं। अजितसेनाचार्य ने अलंकार चिंतामणि में समन्तभद्र को कविकुंजर, मुनिबंध और जनानन्द कहा है। श्वेताम्बराचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने अपनी अनेकान्तजयपताका में समन्तभद्र को 'वादिमुख्य'

से सम्बोधित किया है। इसी प्रकार शुभचन्द्राचार्य, वर्धमानसूरि, महाकवि वादीभसिंह, मंगराज, ब्रह्म-अजित, अकलंकदेव एवं आचार्य विद्यानन्द ने अपने ग्रंथों में समन्तभद्र को नमनकर उनकी स्तुति की है।

भगवान महावीर के शासन में, गौतम गणधर के बाद स्वामी समन्तभद्र ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने जैन न्याय-सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित किया और स्याद्वाद चिह्नित महावीर वाणी को केवलज्ञान के अंश के रूप में प्रमाणिकता एवं गरिमा प्रदान की। आत्म साधना, प्रखर दार्शनिक एवं विद्वत्तापूर्ण रचनाओं तथा अनेकान्त दर्शन के प्रचार-प्रसार में स्वामी समन्तभद्र के अनुपम-अद्भुत योगदान के कारण उन्हें सदैव स्मरण किया जाता रहेगा।

### समन्तभद्र का जीवन-परिचय

स्वामी समन्तभद्र ईसा की दूसरी शताब्दि के मूलसंघ से सम्बन्धित प्रभावक आचार्य हैं। जैनेन्द्र कोष के अनुसार उनका जीवन काल 120 से 185 ईसवी है। आचार्य कुन्दकुन्द के बाद मूलसंघ दो शाखाओं में विभक्त हो गया। एक शाखा उमास्वामी के आचार्यत्व में आगे बढ़ी और दूसरी शाखा वादिराज समन्तभद्र के आचार्यत्व में पनपी। सुप्रसिद्ध बौद्धगुरु पात्रकेशरी ने 'देवागम स्रोत' पढ़कर, समझकर इस शाखा में दीक्षा ग्रहण की थी। आचार्य अकलंक देव भी इसी शाखा से सम्बद्ध थे।

• स्वामी समन्तभद्र के माता-पिता आदि का नाम स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है। फिर भी, श्रवणवेलगोल में उपलब्ध आप्तमीमांसा की एक ताड़पत्रीय प्रति के अनुसार समन्तभद्र फणिमण्डल के अन्तर्गत उरगपुर के क्षत्रिय राजा के पुत्र थे। उरगपुर चोल राजाओं की प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी रही है। पुरानी त्रिचिनापोली भी इसी को कहते हैं। कन्नड़ भाषा की 'राजावली कथे' के अनुसार समन्तभद्र का जन्म उत्पलिका ग्राम में हुआ था। स्तुतिविद्या के अंतिम पद के अनुसार आपका पूर्वनाम शान्ति वर्मा था। यह नाम राजघरानों जैसा है। कदम्ब, गंग और पल्लव राजवंशों में अनेक राजा बर्मान्त नामसहित हुए। कदम्बों में भी शान्तिवर्मा नाम का एक राजा हुआ था। समन्तभद्र के माता-पिता, गुरु, शिक्षा-स्थान आदि के सम्बन्ध में शोध-खोज आवश्यक है।

स्वामी समन्तभद्र बहुमुखी भद्र थे। भद्रता उनके व्यक्तित्व का प्रमुख गुण था। वे महान योगी, त्यागी, तपस्वी एवं तत्वज्ञानी थे। वे महा-वादी, तर्क-पटु एवं परीक्षा-प्रधानी थे। उन्होंने सर्वज्ञ-अभाववादी मीमांसक, भावैकवादी सांख्य, एकान्त पर्यायवादी एवं क्षणिकवादी बौद्ध, सर्वथा उभयवादी वैशेषिक एवं नास्तिकवादी चार्वाक के एकान्त दर्शन की अपूर्णता सार्वजनिकरूप से सिद्धकर जन-मन में अरहंत भगवान के अनेकान्त दर्शन एवं स्याद्वाद् को प्रतिष्ठापित किया। अपने बहुमुखी तत्वज्ञान, वाकपटुता, सहज आकर्षण, भाषाधिकार, शुद्ध अंतःकरण, निर्मल-पवित्र जीवन यात्रा एवं आत्मवैभव द्वारा उन्होंने एकान्तवादियों के अज्ञान अंधकार को दूरकर उन्हें आत्मज्ञानी बनाया।

समन्तभद्र ने पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण के प्रायः सभी मुख्य स्थानों की निर्भीकतापूर्वक यात्रा की और जनता को जैन-दर्शन का रहस्य समझाया। सत्य पर अटूट विश्वास करनेवाला सत्य का ज्ञाता ही निर्भीकतापूर्वक सत्य का प्रभावपूर्ण उद्घाटन कर सकता है, यह स्वामी समन्तभद्र के जीवन-चरित्र से प्रकट होता है। लौकिक लोकहित की साधना और सत्य अभिव्यक्ति विपरीतगामी है।

कहते हैं कि समन्तभद्र चारण ऋद्धिधारी थे जिसके कारण वे जीवों को बिना बाधा पहुँचाये शीघ्रता से सैंकड़ों कोस चले जाते थे।

श्री एम.एस. रामास्वामी आय्यंगर ने अपनी 'स्टडीज इन साउथ इंडीज जैनिज्म' नामक पुस्तक में लिखा है - 'यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र जैन धर्म के एक बहुत बड़े प्रचारक थे जिन्होंने जैन सिद्धान्तों और जैन आचारों को दूर-दूर तक विस्तार के साथ फैलाने का उद्यम किया और वे जहाँ कहीं भी गये उन्हें दूसरे सम्प्रदायों की तरफ से किसी भी विरोध का सामना नहीं करना पड़ा।'

स्वामी समन्तभद्र के जीवन में मन-वचन-काय की एकता विद्यमान थी। वे स्याद्वाद विद्या के अधिपति एवं उद्घोषक थे। उनका समग्र जीवन स्याद्वादमय बना था। यही कारण था कि वे अपने से भिन्न मत रखनेवाले व्यक्ति को सहज ही अपना-जैसा बना लेते थे। वे आग्रह, दुराग्रह एवं पूर्वाग्रह से रहित थे। परीक्षा और तर्क की कसौटीयुक्त अनुभव ही उनका सम्बल था। उनके जीवन का उद्देश्य कुदृष्टि, कुबुद्धि, कुनीति और कुवृत्ति का परिहारकर लोक-जीवन में शुद्धि, शक्ति एवं परम शांति की स्थापना करना था जिसमें वे निस्संदेह सफल हुए।

### कर्तृत्व

स्वामी समन्तभद्र अपने युग की विशिष्ट देन थे। उन्होंने महावीर-शासन के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का गूढ़ अध्ययन, मनन एवं चिंतनकर अनेकान्त दर्शन के आलोक में एकान्तिक विचारधाराओं का निरसन किया। अपनी मौलिक दार्शनिक रचनाओं के माध्यम से उन्होंने जो कुछ कहा उसे स्वयं अपनाया और जन-चर्चा एवं जन-चर्या का विषय भी बनाया। उनकी मातृ भाषा तमिल थी किन्तु उन्हें संस्कृत, प्राकृत तथा कन्नड़ भाषा का अच्छा ज्ञान था। वे तर्क, न्याय, व्याकरण, छंद, अलंकार एवं काव्यकोषादि ग्रंथों में प्रवीण थे। शब्दों पर उन्हें अद्भुत अधिकार था। स्तुतिविद्या में आपका शब्दाधिकार, शब्दालंकार एवं काव्य-कौशल देखते ही बनता है। उनकी सम्पूर्ण रचनाएं संस्कृत भाषा में हैं जिनका विवरण निम्न प्रकार है -

### उपलब्ध रचनाएं

स्वामी समन्तभद्र की पाँच पद्यात्मक रचनाएं उपलब्ध हैं जो मूलतः भक्तिपरक स्तोत्र होकर गूढ़, रहस्यमयी दार्शनिक रचनाएं कही जाती हैं -

#### 1. आप्तमीमांसा या देवागम स्तोत्र

दस अध्यायों में विभक्त 114 श्लोकों की यह रचना अत्यंत दार्शनिक है। इसमें आप्त अर्थात् परमात्मा के स्वरूप की विविध दृष्टिकोणों से परीक्षाकर सच्चे परमात्मा का स्वरूप निश्चित किया है। इसे सर्वज्ञ-विशेषपरीक्षा कहा जाता है। सर्वज्ञ-परीक्षा के बहाने स्वामी समन्तभद्र ने समस्त एकांगी/एकांतिक दार्शनिक विचारधाराओं एवं उनसे जुड़ी ईश्वरीय शक्तियों की अपूर्णता सिद्ध करते हुए अनेकान्त, स्याद्वाद तथा सप्तभंगी के निरूपण द्वारा जैन-न्याय की स्थापना की। इस प्रकार आत्मा में स्व-समय के महा सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति एवं आचार में अहिंसा/अपरिग्रह की स्थापना हेतु अनेकान्तिक विचारशैली एवं

अपेक्षा-युक्त स्याद्वादमयी वचनशैली की अनिवार्यता स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में सिद्ध की है। रचना का उद्देश्य स्व-हित चाहनेवालों को सम्यक् और मिथ्या उपदेश में भेद-विज्ञान कराना है।

सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध जैनाचार्य अकलंक देव ने आप्त-मीमांसा का अष्टशती नामक गहन-गम्भीर भाष्य लिखकर जैन न्याय को प्रतिष्ठापित किया और बौद्धों को शास्त्रार्थ में पराजितकर जैन न्याय की प्रामाणिकता और परिपूर्णता सिद्ध करते हुए उसकी प्रतिष्ठापना की। इसके पश्चात् 9वीं शताब्दि के जैनाचार्य विद्यानन्द ने आप्त-मीमांसा की अष्टसहस्री नामक टीका लिखकर अष्टशती के सार-रहस्य को स्पष्ट किया।

स्वामी समन्तभद्र की विचारधारा, हृदयग्राही तार्किकता एवं रचना-शैली को समझने हेतु कतिपय बिन्दुओं पर प्रकाश डालना समीचीन होगा -

**दैव और पुरुषार्थ** - कार्य की सिद्धि दैव (भाग्य) से होती है या पुरुषार्थ से, यह प्रश्न सदैव जिज्ञासा पैदा करता है। पूर्व अर्जित कर्म का फल या तत्कालीन योग्यता का नाम दैव है जबकि बुद्धिपूर्वक सार्थक प्रयास पुरुषार्थ कहलाता है। किसी इष्ट तत्व की प्राप्ति में दैव और पुरुषार्थ दोनों का योगदान होता है। कार्य की सिद्धि के लिए योग्यता होना जरूरी है। योग्यता होने पर पुरुषार्थ करने पर सफलता नियम से मिलती है। बिना पुरुषार्थ के योग्यता भी फल नहीं देती। दैव एवं पुरुषार्थ के मध्य भेद-रेखा खींचते हुए स्वामी समन्तभद्र कहते हैं कि बुद्धिपूर्वक इष्ट-अनिष्ट की जो प्राप्ति होती है वह पुरुषार्थ से होती है और अबुद्धिपूर्वक इष्ट-अनिष्ट की जो अर्थ-प्राप्ति होती है वह दैव से होती है (श्लोक 91)।

**पाप और पुण्य के बंध का कारण** - प्रायः अपने या पर को दुख या सुख देने को पाप या पुण्य-बंध का कारण माना जाता है। स्वामी समन्तभद्र कहते हैं कि स्व-पर में सुख-दुख का निमित्त बनने से पुण्य-पाप का बंध होने पर अचेतन और कषायरहित जीवों को भी कर्मबन्ध होगा, जो इष्ट नहीं है। इसी प्रकार पर को दुख या स्व को सुख देने से पाप-बंध अथवा पर को सुख या स्व को दुख देने से पुण्य-बन्ध नहीं होता। यह एकान्तिक कथन है। पाप-पुण्य का बंध संक्लेश और विशुद्ध परिणामों से होता है।

स्व और पर में होनेवाला सुख और दुख यदि विशुद्धि (धर्म और शुक्ल ध्यानरूप शुभभाव) का अंग है तो पुण्य-बंध होता है और यदि संक्लेश (आर्त और रौद्र ध्यानरूप अशुभ भाव) का अंग है तो पाप का बंध होता है। यदि स्व-पर सुख-दुख विशुद्धिसंक्लेश का कारण नहीं है तो पुण्य-पाप का आसन्न व्यर्थ है (श्लोक 95)। यह ज्ञातव्य है कि तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार मिथ्यात्व, अव्रत (अविरति), प्रमाद, कषाय और योग इन आर्त-रौद्र परिणामों के कारण संक्लेश परिणाम ही होते हैं।

**अल्प ज्ञान या अज्ञान से बंध-मोक्ष-व्यवस्था** - सांख्य मतावलम्बी प्रकृति और पुरुष में भेद-विज्ञान न होने से अर्थात् अज्ञान से कर्म-बंध मानते हैं और भेद-विज्ञानी को केवली मानते हैं। वैशेषिक मत के अनुसार इच्छा और द्वेष से बंध होता है। बौद्ध मत के अनुसार अविद्या और तृष्णा से बंध होता है। यदि अज्ञान से कर्मबंध हो तो नियम से कोई केवली नहीं बन सकता और यदि अल्प-ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति हो तो बहुत अज्ञान से बन्ध की प्राप्ति भी होगी। इन एकान्त मतों का निराकरण करते हुए स्वामी समन्तभद्र

कहते हैं कि मोहसहित अज्ञान से बंध होता है और मोहरहित अज्ञान से बन्ध नहीं होता है। इसी प्रकार मोह-रहित अल्प ज्ञान से मोक्ष होता है किन्तु मोहसहित अल्प-ज्ञान से मोक्ष नहीं होता (श्लोक 98)। इस प्रकार बंध-मोक्ष में मोहयुक्त या मोहरहित अज्ञान-अल्पज्ञान की निर्णायक भूमिका होती है, जिसे समझना आवश्यक है। मोहसहित अज्ञान बन्ध का कारण है, मोहरहित अज्ञान नहीं।

आठ कर्मों में मोहनीय कर्म सर्वाधिक प्रबल है। यह मिथ्या दर्शन और मिथ्या चारित्र का जनक होने के कारण संसार-दुख का मूल है। इसकी 28 कर्म-प्रकृतियाँ हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्वामी समन्तभद्र के अनुसार एकान्त दर्शन और मोह सहमार्गी हैं। जहाँ एकान्त है वहाँ मोह है और जहाँ मोह है वहाँ दुख है। अतः मोह के विनाश हेतु अनेकान्त दर्शन का आश्रय लेना अनिवार्य है।

**स्याद्वाद और केवलज्ञान में समानता** - सम्पूर्ण तत्वों का प्रकाशन स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों से होता है। अंतर मात्र इतना है कि स्याद्वाद परोक्षरूप से अर्थों को जानता है और केवलज्ञान प्रत्यक्षरूप से। जो वस्तु दोनों ज्ञान में से किसी भी ज्ञान का विषय नहीं है वह अवस्तु है (श्लोक 105)। इस प्रकार स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों ही पूज्य हैं। अतः तत्त्वप्रकाशन हेतु सर्वथा एकान्त का त्यागकर कथंचित् स्याद्वाद का आश्रय लेना चाहिये। वस्तुतः नय-सापेक्ष कथन ही स्याद्वाद है। निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं। ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं।

## 2. युक्त्यनुशासन या वीर जिनस्तोत्र

इसमें 64 पद्य हैं जिनमें जैन धर्म और अन्य धर्मों के गुण-दोषों का अत्यंत मार्मिक वर्णन किया है जिससे लक्ष्य-ध्रष्ट जीव न्याय-अन्याय, हित-अहित और गुण-दोष का निर्णय कर सन्मार्ग पर लग सकें। स्वामी समन्तभद्र के अनुसार - 'प्रत्यक्ष और आगम के अविरोध रूप जो अर्थ का अर्थ से प्ररूपण है उसे युक्त्यनुशासन कहते हैं और वही महावीर भगवान को अभीष्ट है (श्लोक 48)। महावीर का शासन क्रम से दया (अहिंसा), दम (संयम), त्याग (अपरिग्रह) और समाधि (प्रशस्त ध्यान) इन चार मूल स्तम्भों पर आधारित है। इनमें दया प्रधान है। कहा भी है 'धर्मस्य मूलं दया'। दयारहित संयम, त्याग एवं समाधि व्यर्थ हैं। (श्लोक 6)। स्वयंभू स्तोत्र (119) में 'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं' कहकर अहिंसा की उपासना की पुष्टि की है।

**सर्वोदय तीर्थ की उद्घोषणा** - सर्वोदय अर्थात् सबका उदय-अभ्युदय जीवन का लक्ष्य है। आज सर्वोदय की चर्चा हर-एक मंच से की जाती है। इस शब्द का सर्वप्रथम उपयोग स्वामी समन्तभद्र ने अपनी रचना युक्त्यनुशासन के श्लोक सं. 61 में 'सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव' कहकर किया। उन्होंने घोषणा की कि महावीर का अनेकांतिक शासन ही ऐसा साधन है जो समस्त दुर्नयों एवं मिथ्यादर्शनों का विनाशकर जाति, कुल, वर्ण, स्थान-देश आदि का भेद-भाव किये बिना न केवल सम्पूर्ण मनुष्य जाति किन्तु प्राणिमात्र को अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त एवं समता के आधार पर आत्म-विकास का अवसर प्रदानकर उन्हें सम्पूर्णरूप से भद्र एवं पूर्ण बनाता है। आज इस अर्थ में सर्वोदय शब्द अपना सही अर्थ खो चुका है जिसकी पुनर्स्थापना आवश्यक है।

### 3. स्तुतिविद्या

इसे जिनशतक भी कहते हैं। इसमें भक्ति-भरे अलंकृत एवं काव्यात्मक भाषा के 116 श्लोक हैं जिनमें चौबीस तीर्थंकरों की भावभरी स्तुति की गयी है। इस रचना का उद्देश्य 'आगसां जये' अर्थात् पापों को जीतना है। स्वामी समन्तभद्र की यह रचना अद्भुत काव्य कौशल, असाधारण काव्य पांडित्य एवं अद्वितीय शब्दाधिपत्य की सूचक है। यह चित्रालंकार एवं शब्दालंकार के अद्भुत एवं विस्मयकारी प्रयोगों से अलंकृत है। इसके अनेक श्लोक मुरजबंध चित्राकृतियुक्त हैं। श्लोक क्रमांक 51, 52, 55 एवं 85 का निर्माण दो-दो व्यंजन अक्षरों से हुआ है। चौदहवें श्लोक का प्रत्येक पाद क्रमशः य, न, म, त के एक-एक अक्षर से बना है। इसी प्रकार 13 वां श्लोक 'ततोतिता तुं त तीत' ऐसा है जिसका निर्माण केवल 'त' अक्षर से हुआ है। तीर्थंकरों के पुण्य-गुणों का स्मरण आत्मा से पापमल को दूर करके उसे पवित्र बनाता है। यह तभी होता है जब स्तुति भावपूर्ण हो और स्तुतिकर्ता तीर्थंकरों के गुणों की अपने में अनुभूति करता हुआ उनमें अनुरागी होकर तद्रूप होने का प्रयास करे। ऐसा होने पर पाप प्रकृतियों का रस सूखता है और पुण्य प्रकृतियों का रस (अनुभाग) बढ़ता है। तथा अंतराय कर्मरूप पाप-मूलक प्रकृति निर्बल होकर लौकिक प्रयोजन सिद्ध होने में बाधक नहीं हो पाती।

### 4. स्वयंभू स्तोत्र

इसे समन्तभद्र स्तोत्र भी कहते हैं। इसमें 143 श्लोक हैं जिनमें विद्यमान चौबीस तीर्थंकरों की भक्तिपरक स्तुति के माध्यम से उनसे सम्बन्धित ऐतिहासिक बातों के उल्लेख के साथ जैन दर्शन के तत्त्वों एवं सिद्धान्तों तथा धार्मिक शिक्षा का मार्मिक वर्णन किया गया है। इस कृति में स्वामी समन्तभद्र ने भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग की त्रिवेणी का अद्भुत संगम प्रस्तुत किया है जिसके अवगाहन से ज्ञानानन्द/आत्मानन्द की सहज शांतिपूर्ण अनुभूति होती है। प्रत्येक तीर्थंकर की स्तुति के साथ जैन तत्त्व के किसी न किसी पक्ष के रहस्य को रोचकतापूर्वक स्पष्ट कर तीर्थंकरों के गुणानुवाद में नये-नये विशेषणों का प्रयोग किया है। इससे रचनाकार की कल्पना एवं सृजन शक्ति का प्रमाण मिलता है। शब्द-चयन और शब्द-अर्थ-रचना की सटीक छटा सर्वत्र देखने को मिलती है। इसके कुछ उदाहरण उल्लेखनीय हैं जैसे- अभिनन्दन-जिन ने लौकिक-वधू का त्यागकर क्षमा सखीवाली दया-वधू को अपने आश्रय में लिया। चन्द्रप्रभ-जिन ने शरीर के दिव्य प्रभामण्डल से बाह्य अंधकार और ध्यान-प्रदीप के अतिशय से मानस-अंधकार दूर किया। शांतिनाथ-जिन ने समाधि-चक्र से दुर्जय मोह-चक्र को जीता, उनके चक्रवर्ती राजा होने पर राज-चक्र, मुनि होने पर दया-दीधिति-चक्र, पूज्य (तीर्थ-प्रवर्तक) होने पर देव-चक्र प्रकट हुआ। ध्यानोन्मुख होने पर कृतान्त-चक्र, कर्मों का अवशिष्ट समूह नाश को प्राप्त हुआ। मुनिसुव्रत जिन का यह कथन कि चर-अचर त्रिगत प्रतिक्षण स्थिति जनन-निरोध लक्षण को लिये हुए है - सर्वज्ञता का द्योतक है। उन्होंने योगबल से कर्मकलंक भस्मकर परम अतीन्द्रिय-मोक्ष सौख्य प्राप्त किया था। नमि-जिन ने परम करुणा भाव से अहिंसा परम ब्रह्म की सिद्धि के लिए समस्त अंतर-बाह्य परिग्रह का त्याग कर दिया था, क्योंकि जहां अणुमात्र भी आरम्भ परिग्रह होता है, वहां अहिंसा का वास नहीं होता अथवा पूर्णता का वास नहीं होता। पार्श्वनाथ-जिन महामना थे, वे वैरी के वशवर्ती उपद्रवों से अचलायमान रहे। महावीर-जिन का स्यादवादरूप प्रवचन दृष्ट और इष्ट के साथ विरोध न रखने के कारण निर्दोष है। उन्होंने निष्कपट सम और

दम कर महाव्रतादि के अनुष्ठान और कषायों तथा इन्द्रियों के जय का उपदेश दिया। अहिंसा का अभय दान दिया। वे बहुगुण-सम्पत्ति से युक्त हैं, पूर्ण हैं, और सब ओर से भद्र-समन्तभद्र हैं, आदि।

**भक्ति, ज्ञान और कर्मयोग का समन्वय** - स्वयंभूस्तोत्र स्तुतिपरक भक्तिप्रधान रचना है। संसार-दुःख का मूल 'मोह' अर्थात् दृष्टि विकार है जिसके कारण आत्मानुभूति नहीं हो पाती। मोह-क्षय हेतु स्वामी समन्तभद्र ने तीर्थंकर भक्ति का सहारा लिया। उन्होंने कहा कि भगवान, आप पुण्य-कीर्ति मुनीन्द्र का नाम-कीर्तन भी हमारी आत्मा को पवित्र करता है इसलिये हम आपके गुणों का स्मरण करते हैं (श्लोक 87)। जिनेन्द्र के पुण्य-गुणों का स्मरण-कीर्तन आत्मा की पाप-परिणति को छुड़ाकर उसे पवित्र करता है (श्लोक 57)। स्वामी समन्तभद्र ने गाथा 114 में 'सुश्रद्धा' शब्द का उपयोग किया है। उनके अनुसार प्रभु-भक्ति में लक्ष्य-शुद्धि एवं भाव-शुद्धि पर दृष्टि रखना आवश्यक है, जिसका सम्बन्ध विवेक से है। विवेक की भक्ति ही सदभक्ति है। जहाँ दृष्टि-विवेक लक्ष्यभ्रष्ट हुआ वहीं भक्ति की शक्ति अनंत संसारमार्गी हो जाती है।

जिन-भक्ति का आधार ज्ञान-योग है, जिसका लक्ष्य आत्मज्ञान है। आत्मा के क्षितिज पर ज्ञान-सूर्य के उदय से मोह का अंधकार एवं कषायों की सबलता मिटती है। आत्मा ने अनादिकाल से शरीर, मनोभाव, संसार के जीवों एवं वस्तुओं तथा शुभ-अशुभ भावों से अपनत्व के सम्बन्ध जोड़ रखे हैं। इनके सम्बन्धों का सही ज्ञान प्राप्तकर अपने ज्ञान-स्वभाव से ज्ञान का ज्ञान से जुड़ना/रमना ही ज्ञानयोग का कार्य है। यह भेद-विज्ञान द्वारा एकान्तिक दृष्टि एवं दुर्नयों के परिहार से ही सम्भव है।

मोक्ष के इच्छुक को मुमुक्षु कहते हैं। भक्तियोग और ज्ञानयोग के आश्रय से ही कोई मुमुक्षु बन सकता है। मुमुक्षु होने से कर्मयोग का प्रारम्भ होता है। कर्मयोगी ज्ञानस्वरूप आत्मा में मन-वचन-काय द्वारा स्व-प्रवृत्त होता है और अपने से भिन्न हिंसादि पाप प्रणालियों से निवृत्त होता है। स्व-प्रवृत्ति से पर-निवृत्ति स्वतः हो जाती है। स्व-प्रवृत्ति ही चारित्र है। शुद्ध स्व-प्रवृत्त आत्मा परमब्रह्म या 'जिन श्री' कहलाते हैं जो निज श्री के ज्ञान-ध्यान से ही सम्भव है। स्वामी समन्तभद्र ने अपनी रचनाओं में इन तीन योगों का मार्मिक-सटीक-परीक्षाप्रधानी वर्णनकर उनके मध्य सुन्दर समन्वय स्थापित किया है।

## 5. रत्नकरण्ड श्रावकाचार

यह स्वामी समन्तभद्र की आचार-दर्शक महत्वपूर्ण रचना है जिसे समीचीन-धर्मशास्त्र भी कहा जाता है। इसमें धर्म, धर्म की प्राप्ति का उपाय तथा धार्मिक व्यक्ति, गृह एवं साधु के अंतर-बाह्य स्वरूप का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। मुमुक्षु श्रावकों के आचरण को दर्शाने एवं उनकी परीक्षा करने का यह प्रामाणिक आधार प्रस्तुत करता है। आत्मा के प्रति दृष्टि-विकार एवं चारित्र-विकार को दूरकर आत्म-सुख उपलब्ध कराना ही इसका उद्देश्य है। इस रचना में 150 श्लोक हैं जो सात अध्यायों में विभक्त हैं।

सभी जीव सुख चाहते हैं। धर्म सुख का साधन है। समीचीन (यथार्थ) धर्म संसार के जीवों को दुख-समूह से निकालकर उत्तम सुख प्रदान करता है (श्लोक 2)। सद्दृष्टि, सद्ज्ञान और सद्वृत्त अर्थात् आत्म-श्रद्धान, आत्म-ज्ञान और आत्म-रमणता ही धर्म है। (श्लोक 3)। इसके विपरीत अधर्म है। इस प्रकार धर्म का आधार सद्दृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शन है। अध्यात्म विषय के आप्त (देव), आगम (शास्त्र)



एवं निर्ग्रन्थ गुरुओं का अष्ट अंगसहित, तीन मूढतारहित तथा आठ मद-विहीन श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं (श्लोक 4)। इस प्रकार शुद्ध-आत्म स्वरूप के प्रति रुचि/विश्वास ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन से युक्त चाण्डल का पुत्र भी देव-समान है (श्लोक 28)। इस प्रकार ऊंच-नीच के भेदरहित कोई भी व्यक्ति/जीव सम्यग्दृष्टि हो सकता है। मनुष्य तो क्या, एक कुत्ता भी धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन के प्रभाव से देव बन जाता है और पाप/अधर्म से देव भी कुत्ता बन जाता है (श्लोक 29)। आत्म-श्रद्धानी जीव भय, आशा, स्नेह एवं लोभ से रहित अर्थात् इनके प्रति अनासक्त होते हैं तथा अनात्मवादियों की विनय भी नहीं करते (श्लोक 30)। धर्म का आधार/बीज सम्यग्दर्शन है। इसके बिना साधुत्व का बाह्य आडम्बर व्यर्थ है। मोही साधु से निर्मोही-आत्मश्रद्धान-गृहस्थ श्रेष्ठ हैं (श्लोक 33)। इस प्रकार आत्म-श्रद्धान-विहीन गृहत्यागी साधु मोक्षमार्गी नहीं हैं जबकि आत्म-श्रद्धान-सहित गृहस्थ मोक्षमार्गी हैं।

विराट् वस्तु-स्वरूप को जैसा का तैसा, न्यूनता, अतिरिक्तता, विपरीतता और सन्देहरहित जानना सम्यक् ज्ञान है (श्लोक 42)। संक्षेप में शुद्धात्मा का ज्ञान ही सम्यक्ज्ञान है, जो सम्पूर्ण वस्तु-स्वरूप का बोध कराता है।

दर्शन-मोह-रहित सम्यग्ज्ञान युक्त साधु राग-द्वेष की निवृत्ति हेतु चरण अर्थात् सम्यक् चारित्र धारण करता है (श्लोक 47)। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, सेवा और परिग्रह ये पाप-प्रणालियाँ हैं। इनसे जो विरक्त होता है, वह सम्यग्ज्ञानी का सम्यक् चारित्र है (श्लोक 49)। साधु इनका सम्पूर्णरूप से त्यागकर सकल चारित्र (सर्वसंयम) धारण करते हैं। गृहस्थ अंशरूप से त्यागकर विकल-चारित्र (देशसंयम) धारण करते हैं (श्लोक 50)।

गृहस्थ पाँच अणुव्रत अर्थात् अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह, तीन गुणव्रत अर्थात् दिग्ब्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण व्रत तथा चार शिक्षाव्रत अर्थात् देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य, इस प्रकार बारह व्रत-रूप देशचारित्र को क्रमशः धारण करते हैं (श्लोक 51) और मद्य, मांस तथा मधु के त्यागी होते हैं। पाँच अणुव्रत और तीन म-कार का त्याग श्रावक के 'अष्ट मूल गुण' कहलाते हैं। इनका विस्तृत एवं सूक्ष्म वर्णन तीन से पाँचवें अध्याय में किया गया है। सामायिक के समय गृहस्थ को 'चेलोपसृष्ट मुनि' की उपमा दी गयी है।

छठे अध्याय में धर्मार्थ एवं सद्गति हेतु उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा एवं रोग की स्थिति में जागरूकता और समाधिपूर्वक देहत्याग-समाधिमरण का विधिपूर्वक वर्णन है। सातवें अध्याय में गृहस्थ के उत्तरोत्तर विकास हेतु ग्यारह प्रतिमाओं अर्थात् पदों का वर्णन है जिनको धारणकर निर्मोही साधु तक की यात्रा सम्पन्न होती है। इस प्रकार स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में धर्म और धर्मार्थ का वर्णन किया है।

### अनुपलब्ध रचनाएं

स्वामी समन्तभद्र ने उक्त रचनाओं के अलावा निम्न ग्रंथों की रचना की। ये ग्रंथ यद्यपि वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं फिर भी उनका उल्लेख पूर्ववर्ती आचार्यों एवं लेखकों ने अपनी रचनाओं में किया है -

1. जीवसिद्धि - आचार्य जिनसेन द्वारा रचित हरिवंशपुराण में 'जीवसिद्धि विधायीहकृत युक्त्यनुशासन'

पद से इस रचना का ज्ञान होता है। इस रचना को भगवान महावीर के वचनों जैसा प्रकाशमान बतलाया है।

2. **गन्धहस्ति महाभाष्य** - यह तत्त्वार्थसूत्र पर लिखा गया चौरासी हजार श्लोकप्रमाण महाभाष्य है। इसका उल्लेख 14वीं शताब्दि के विद्वान हस्तिमल्ल ने अपने 'विभ्रान्त कौरव' नाटक की प्रशस्ति में किया है, यथा- "तत्त्वार्थसूत्र व्याख्यान गंधहस्ति प्रवर्तकः स्वामी समन्तभद्रोऽभूद्देवागम निदेशकः"। अन्य प्राचीन ग्रंथों में भी 'गन्धहस्ति महाभाष्य' का उल्लेख आया है।
3. **तत्त्वानुशासन** - श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स द्वारा प्रकाशित 'दिगम्बर जैन ग्रंथ कर्ता और उनके ग्रंथ' की सूची में इसका उल्लेख है। श्री हरिभद्र सूरि ने अपने 'अनेकान्त जयपताका', शान्त्याचार्य ने अपने 'प्रमाण-कलिका' तथा वादिदेव सूरि ने 'स्याद्वाद रत्नाकर' में स्वामी समन्तभद्र के नाम से दो श्लोक उद्धृत किये हैं जो उनके उपलब्ध ग्रंथों में नहीं मिलते। पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार की टीका में 'तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने' वाक्य से भी इस ग्रंथ का आभास होता है। उक्त श्लोक भी तत्त्वानुशासन का होना सम्भावित है।
4. **प्रमाण पदार्थ** - मूडबद्री के पडुवस्तिभंडार की सूची के अनुसार एक हजार श्लोकप्रमाण न्याय विषयक यह अपूर्वग्रंथ है जो स्वामी समन्तभद्र द्वारा लिखा गया है।
5. **प्राकृत व्याकरण** - बारह हजार श्लोकप्रमाण का 'प्राकृत व्याकरण' जैन ग्रंथावली से ज्ञात होता है जिसका उल्लेख 'रायल एशियाटिक सोसायटी' की रिपोर्ट के आधार पर किया है। श्रीपूज्यपाद स्वामी ने अपने जैनेन्द्र व्याकरण में 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' सूत्र का उल्लेख-कर स्वामी समन्तभद्र के मत को व्यक्त किया है जो उनकी व्याकरण कृति होने की पुष्टि करते हैं।
6. **कर्मप्राभृत टीका** - श्री इन्द्रनन्दिकृत 'श्रुतावतार' के श्लोक क्र. 167 से 170 के अनुसार स्वामी समन्तभद्र ने षट्खण्डागम (कर्म प्राभृत) के प्रथम पाँच खण्डों की 48 हजार श्लोक-प्रमाण टीका की थी, जो सुन्दर और मृदु थी। वे कषायप्राभृत पर भी टीका लिखना चाहते थे किन्तु ऐसा नहीं कर सके।

स्वामी समन्तभद्र-रचित उक्त ग्रंथों की शोध/खोज आवश्यक है। इन ग्रंथों के उपलब्ध होने पर जैन न्याय, दर्शन और कर्म सिद्धान्त के सूक्ष्म रहस्यों का ज्ञान होगा और ऐसे विवादित बिन्दुओं का सहज समाधान होगा जो लोकेषणा या अधिक-ज्ञान की अभिव्यक्ति के प्रयास में जैन-सिद्धान्तों की मूल-आत्मा को कचोटते प्रतीत होते हैं, जैसे कर्म-बंध में मिथ्यात्व की भूमिका, कर्म से निष्कर्म में ज्ञान की भूमिका, मनोविकारों या कषायों को मंद करने की घोषणा आदि।

स्वामी समन्तभद्र सर्वांगीण रूप से भद्र महापुरुष थे। उनका जीवन मुमुक्षुओं के लिए सदैव

‘प्रकाशदीप’ के समान प्रेरणास्रोत बना रहेगा। जो भद्र पुरुष हैं और यथार्थ में अपना आत्म-कल्याण चाहते हैं उन्हें स्वामी समंतभद्र (युक्त्यनुशासन) के निम्न श्लोक को हृदयंगम करना अपेक्षित है, जिसमें आत्म-शुद्धिकरण की प्रक्रिया निहित है -

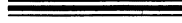
**दया दमत्याग समाधिनिष्ठं नयप्रमाण-प्रकृताञ्जसार्थम् ।**

**अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन त्वदीर्य मतमद्वितीयम् ॥६॥**

उक्त पद्य में भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग इन तीनों का समावेश होकर जैन-शासन के सिद्धान्त और मार्ग को सूत्ररूप में समझा दिया गया है।

ओ. पी. मिल्स

अमलाई (म.प्र.)-484117



## स्वामी समन्तभद्राचार्य और उनकी यशोगाथाएं

- श्री कुन्दनलाल जैन

जैन वाङ्मय के इतिहास-गगन में आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामि के पश्चात् स्वामी समन्तभद्राचार्य ही एक ऐसे बहुश्रुत और क्रान्तिकारी दिग्गज मनीषी दिखाई देते हैं जो प्रखर प्रतिभा-पुञ्ज तेजस्वी सूर्य की भांति देदीप्यमान प्रतीत होते हैं। उनकी अद्भुत ज्ञान-गरिमा और तपःपूत चारित्र-निधि सूर्यकान्त मणि की भाँति ऐसी दमकती रही कि उनके उत्तरवर्ती दिग्गज मनीषियों ने कालान्तर में उन्हें बड़े सम्मान और आदरपूर्वक अपने श्रद्धासुमन समर्पित किये तथा भक्तिपूर्वक उनकी यशोगाथाएं गाईं जो आज भी इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अङ्कित हैं। ऐसी ही यशोगाथाओं का संकलन हम यहां प्रस्तुत कर रहे हैं। शायद ही कोई और विद्वान ऐसा रहा हो जिसे इतना अधिक मान मिला हो।

स्वामी समन्तभद्र परीक्षाप्रधानी आचार्य थे। वे रूढ़िवादी अंधभक्त न थे। वे पहले सारस्वताचार्य थे जिन्होंने 'देवागम नभोयान ---' इत्यादि पद्य द्वारा भगवान को चुनौती दी थी कि आपकी पूजा चामरादि वैभव के कारण नहीं होती है अपितु आप्तता के कारण ही आप वंदनीय हैं। स्वामी समन्तभद्र अपने समय के विख्यात यायावर थे उन्होंने उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम, सम्पूर्ण भारतवर्ष में विहार किया था, जगह-जगह शास्त्रार्थ किए थे और जैन धर्म के झण्डे गाड़े थे<sup>2</sup>।

चीनी यात्री फाह्यान (400 ई.) और ह्वेनसांग (630 ई.) जब भारत आये थे तो उन्हें अपने भारत-भ्रमण में पता चला था कि इस देश की विभिन्न ज्ञान-नगरियों के राजपथों पर शासन की ओर से बड़े-बड़े नगाड़े रखे रहते थे, जब कोई विशिष्ट विद्वान घूमता हुआ उस नगरी में आकर दूसरे दिग्गज विद्वानों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारता था तो वह उस नगाड़े को बजाता था और शास्त्रार्थी विद्वान वहाँ एकत्र होकर

वाद-विवाद तथा शास्त्रार्थ किया करते थे<sup>3</sup>।

स्वामी समन्तभद्राचार्य की यायावरी की सफलता का रहस्य श्री हस्तिमल्ल के प्रसिद्ध नाटक 'विक्रान्त कौरव' के निम्न वाक्य में अन्तर्हित है - "समन्तभद्राख्योमुनिर्जीयात्पदद्विक" अर्थात् स्वामी समन्तभद्राचार्य को आचार्य कुन्दकुन्द की भांति चारण ऋद्धि प्राप्त थी, जिस तरह आचार्य कुन्दकुन्द सीमंधर स्वामी के समवशरण में विदेह क्षेत्र पहुंचे थे उसी तरह स्वामी समन्तभद्र भी पदद्विक होने के कारण सम्पूर्ण भारत का भ्रमण कर सके, इसकी परिपुष्टि जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय तथा राजावलीकथे के रचनाकारों (अव्यपार्य आदि) ने निम्न वाक्यों द्वारा की है - "समन्तभद्रार्यो जीयात्प्राप्तपदद्विकः" तथा ... समन्तभद्र स्वामी गलु पुनर्दीक्षेगोण्डु तपससामर्थ्यदिं चतुरङ्गल चारणत्वमं पडेदु"। उनकी यायावरी का एक मानचित्र परिशिष्ट 'द' में प्रस्तुत कर रहे हैं।

स्वामी समन्तभद्र का आत्म-परिचायात्मक एक तीसरा पद्य और उपलब्ध होता है जिससे उनकी बहुविधिज्ञता का पता चलता है और उनके दस विशेषणों का परिचय देता है -

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराद् पण्डितोऽहं,  
द्वैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहं ।  
राजन्नस्यां जलधिधवलया मेखलायामिलाया-  
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहं ॥<sup>4</sup>

वे (1) आचार्य, (2) कवि, (3) वादिराद्, (4) पण्डित (गमक), (5) द्वैवज्ञ (ज्योतिषी), (6) भिषग् (वैद्य), (7) मान्त्रिक, (8) तान्त्रिक, (9) आज्ञासिद्ध और (10) सिद्धसारस्वत आदि कई गुणों से युक्त थे।

स्वामी समन्तभद्र की सभी उपलब्ध रचनाएं (रत्नकरण्ड श्रावकाचार को छोड़कर) स्तुतिपरक हैं अतः आद्यस्तुतिकार के संबोधन से मनीषियों ने उनकी वंदना की है। उनकी स्तुतियां केवल गुणगानपरक ही नहीं हैं अपितु इन स्तुतियों में जैन तत्वज्ञान का दार्शनिक पक्ष आप्तत्व, अनेकान्तवाद, सप्तभंगी तथा जैन न्याय का युक्तिसंगत विवेचन विद्यमान है। इनकी सभी रचनाएं अपर नामधारिणी हैं, जैसे- (1) देवागम स्तोत्र—आप्तमीमांसा (2) युक्त्यनुशासन—वीर जिनस्तवन, (3) वृहत्स्वयंभू स्तोत्र—चतुर्विंशतितीर्थस्तव, (4) रत्नकरण्ड श्रावकाचार—उपासकाध्ययन—समीचीन धर्मशास्त्र, (5) स्तुति विद्या-जिन स्तुतिशतक, जिन शतक, जिनशतकलंकार। बाकी निम्न छः रचनाएं अनुपलब्ध हैं जिनकी शोध-खोज की आवश्यकता है - (6) तत्वानुशासन, (7) प्रमाणपदार्थ, (8) प्राकृतव्याकरण, (9) जीवसिद्धि, (10) कर्म प्राभूतटीका और (11) गंध हस्तिमहाभाष्य। कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'सिद्धहैमशब्दानुशासन' में स्वामी समन्तभद्र को 'स्तुतिकार', श्री मलयगिरि सूरि ने 'आवश्यक सूत्र' की टीका में इन्हें 'आद्यस्तुतिकार' के रूप में प्रणाम किया है। इतिहास का अवलोकन करने से भी पता चलता है कि स्वामी समन्तभद्र से पूर्व स्तुतिविद्या का प्रणयन प्रारम्भ ही नहीं हुआ था अतः साहित्य की एक नई विधा के प्रवर्तक होने के कारण आप 'स्तुतिकार' या 'आद्य स्तुतिकार' के रूप में वंदनीय रहे<sup>5</sup>।

स्वामी समन्तभद्राचार्य की आत्मिक निर्मलता और सर्वतोभद्रत्व की सर्वोत्कृष्ट सद्भावना के कारण उन्हें तीर्थंकर-प्रकृति का बंध हो गया हो तो कोई अतिशयोक्ति न होगी, उनकी अर्हद्भक्ति और सर्वोदय प्रवर्तन उन्हें इस योग्य बना सका कि वे इस भारत की इस पुण्य भूमि पर भावी तीर्थंकर होंगे ही जैसा कि निम्न गाथा से ज्ञात होता है कि निम्न चौबीस पुरुष नियम से तीर्थंकर होंगे ही—

**अट्टहरीणव पडिहरि चक्कि चउक्कं च एय बलभद्दो ।  
सोजिय संमतभद्दो तित्थयरा होंति निणमेण ॥**

इसकी पुष्टि आचार्य श्रुतसागर ने अपनी षट्प्राभृत टीका में भी की है - “उक्तं च समन्तभद्रणोत्सर्पिणी काले आगामिनिभविष्यत्ततीर्थंकर परमपदेन” श्री हस्तिमल्ल और अय्यपार्य भी अपने नाटक ‘विक्रान्त कौरव’ तथा ‘जितेन्द्र कल्याणभ्युदय’ ग्रंथ में लिखते हैं—“श्रीमूल संघ व्योम्नेन्दुभरिते भावि तीर्थंकरद् देशे समन्तभद्राख्यो जीयात ....” आराधना कथाकोश के कर्ता श्री नेमिदत्त भी उनके भावी तीर्थंकर होने की पुष्टि निम्न श्लोक से करते हैं -

**कृत्वा श्री मज्जिनेन्द्रात्मं शासनस्य प्रभावनां ।  
स्वर्मोक्षदायिनीं धीरो भावितीर्थंकरो गुणी ॥**

‘राजावलीकथे’ में भी लिखा है कि वे भावी तीर्थंकर होंगे - आभावितीर्थं करन् अप्प समन्तभद्र स्वामिगलु<sup>०</sup>। श्री श्रुतसागर (सं. 1530) ने भी पं. आशाधर जी के ‘जिनसहस्रनाम’ की टीका करते हुए स्वामी समन्तभद्र को उत्सर्पिणी काल का भावी तीर्थंकर लिखा है<sup>१</sup>।

स्वामी समन्तभद्र का समय भारतीय दर्शनों का क्रान्तिकाल कहलाता है। इस समय अश्वघोष, मातृचेत, नागार्जुन, कणाद, गौतम, जैमिनी जैसे उद्भट दार्शनिक विद्वानों की दार्शनिक विचारधाराएं प्रवाहित हो रही थीं जिनमें सद्वाद-असद्वाद, शाश्वतवाद-उच्छेदवाद, अद्वैतवाद-द्वैतवाद, अवक्तव्यवाद-वक्तव्यवाद इन चार विरोधी युगलों का प्रभुत्व था और इन्हीं के द्वारा तत्त्वचर्चाएं हुआ करती थीं पर स्वामी समन्तभद्र ने अपने क्रान्तिकारी दार्शनिक विचारों द्वारा उन चार युगलों को सप्तभङ्गों के रूप में निरूपितकर ‘सप्तभङ्गी’ की एक नई विचारधारा तत्कालीन दार्शनिक जगत को दी थी<sup>२</sup>।

स्वामी समन्तभद्र क्षत्रिय राजपुत्र थे। उनका नाम शान्ति वर्मा था। बाद में मुनिपद से दीक्षित हो जाने पर स्वामी समन्तभद्र के नाम से विख्यात हुए। उनके पिता श्री उरगपुर के राजा थे जो फणिमंडल (नागराज्य) नामक राज्य के अन्तर्गत था। वर्तमान ‘उरयूर’ जो प्राचीन त्रिचिनापोली के नाम से प्रसिद्ध है ‘उरगपुर’ कहलाता था।<sup>३</sup> यह चोल राजाओं की प्राचीन ऐतिहासिक राजधानी थी। कवि कालिदास के ‘रघुवंश’ में भी इसका उल्लेख मिलता है। उपर्युक्त सूचना श्रवणवेलगोल के भण्डारस्थित ‘आसमीमांसा’ की ताडपत्रीय प्राचीन प्रति से प्राप्त होती है - यथा “इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामी समन्तभद्र मुनेः कृतौ आत्ममीमांसायाम् ।” कर्नाटक की ‘अष्टसहस्री’ की एक प्राचीन पाण्डुलिपि में समन्तभद्र के साथ शान्ति वर्मा का भी उल्लेख मिलता है यथा “इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिप सूनुना शांतिवर्मनाम्न श्री समन्तभद्रेण”। इसकी पुष्टि उनकी रचना स्तुतिविद्या के निम्न उल्लेख से भी हो जाती है जो चित्रबद्धात्मक

स्तुतिविद्या के 116 वें पद्य की संस्कृत टीका में आचार्य वसुनन्दि ने लिखा है - षडरंनवल्लयं चक्रमालिख्य, सप्तमवल्लयेशान्तिवर्म कृतं इति भवति । चतुर्थवल्लये जिनस्तुतिशतं इति च भवति अतः कवि काव्यनाम गर्भं चक्रवृत्तं भवति<sup>10</sup> । (विस्तृत विश्लेषण परिशिष्ट 'स' पर देखिये)

स्वामी समन्तभद्र का समय 120 ई. से 185 तक का सुनिश्चित होता है । स्व. जुगलकिशोर जी मुख्तार, स्व. डा. ज्योतिप्रसाद जैन एवं स्व. डा. नेमिचन्द्र शास्त्री, प्रभृति विद्वानों ने इसकी पुष्टि की है । उनके पिता नागवंशी चोल नरेश कीलिक वर्मन तथा अग्रज श्री सर्ववर्मन (शेषनाग) थे । अट्टारह वर्ष की अल्पायु में ही आप मुनि पद पर दीक्षित हो गये थे और लगभग आधी सदी तक जैन धर्म का डंका बजाते हुए जैन तत्वज्ञान और दार्शनिक पक्षों की व्याख्या करते हुए एक क्रान्तिकारी आचार्य के रूप में अपने प्रतिद्वन्द्वियों को सम्मोहित करते हुए लगभग 185 ई. को स्वर्गरोहित हुए<sup>11</sup> । ऐसा दिग्गज विद्वान और सरल परिणामी सशक्त विवक्षाकार जैनवाङ्मय में दूसरा नहीं दिखाई देता । स्व. जुगलकिशोर जी मुख्तार तो उन्हें 'भगवान्' संबोधन देने में अपना गौरव समझते हैं । इस सदी में मुख्तार सा. जैसे समन्तभद्र के विशिष्ट भक्त रहे हैं वैसे ही अष्टसहस्री के निर्माता आचार्य विद्यानन्द स्वामी (नवमी सदी) भी समन्तभद्र के श्रेष्ठ प्रशस्तिवाचक रहे हैं उन्होंने स्वामी जी की जो स्तुति और प्रशंसासूचक पद्य लिखे हैं वे इतिहास में उल्लेखनीय हैं, भक्तिरस के रसिया पाठक उनका रसास्वादन कीजिए -

श्रीमद्वीरजिनेश्वरामलगुणस्तोत्रं परीक्षेक्षणैः,  
साक्षात्स्वामी समन्तभद्रगुरु भिस्तत्त्वं समीक्ष्याखिलं  
प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगैः  
विद्यानंद बुधैरलं कृतमिदं श्री सत्यवाक्याधिपैः ॥1॥ (युक्त्यनुशासन टीका)

नित्याद्येकान्तगर्तं प्रपतन विवशान्प्राणिनोऽनर्थसार्था,  
दुद्धर्तुं नेतुमुच्चैः पदममलमलं मंगलान्मलंघ्यं ।  
स्याद्वादन्यायवर्त्मं प्रथयदवितयार्थं वचः स्वामिनोदः,  
प्रेक्षावत्वाद् प्रवृत्तं जयतु विद्यटिताशेष मिथ्याप्रवादं ॥2॥

प्रज्ञाधीश प्रपूज्योज्ज्वल गुणनिक रोद्भूत सत्कीर्ति सम्प,  
द्विद्यानंदो दयायानवरत मखिलक्लेशनिर्णाशिनाय ।  
स्ता द्वीः सामन्तभद्री दिनकर रुचि जित्सप्तभंगी विधीद्धा ।  
भावाद्येकान्त चेतरित्तमिर निरसनी वोऽकलंक प्रकाशा ॥3॥

अद्वैताद्याग्रहोग्रहगहन विपन्निग्रहेऽलंघ्य वीर्याः,  
स्यात्कारामोघमंत्र प्रणयत विधयः शुद्ध सध्यानधीराः ।  
धन्यानाम्नहधाना धतुमधिवसतां मंडल जैनमग्रं  
वाचः सामन्तभद्रयो विदधु विविधां सिद्धिमुद्भूत मुद्राः ॥4॥

अपेक्षैकान्तादि प्रबल ग रलोद्रेक दलिनी,  
 प्रवृद्धानेकान्तामृत रस निषेकाननवरतम् ।  
 प्रवृत्रा वागेषा सकल विकलादेश वशतः  
 समन्तात्भद्रं वो दिशतु मुनिवस्यामलमतेः ॥5॥

कार्यादेर्भेद एव स्फुटमिह नियतः सर्वथाकारणादे -  
 रित्याद्येकान्तवादोद्धततरमतयः शांततामाश्रयन्ति ।  
 प्रायोयस्योपदेशादविघटित नयान्मानमूलादलंध्यात्  
 स्वामी जीयात्स शश्वत प्रथिततरयतीशोऽकलं कोरुकीर्तिः ॥6॥

येनाशेष कुनीति वृत्ति सरितः प्रेक्षावतां शोषिताः  
 यद्वाचोऽथकलंकनीति रुचिरातत्वार्थ सार्थद्युतः ।  
 स श्री स्वामिसमन्तभद्रयति भृद्भूयाद्विभुर्भानुमान्  
 विद्यानंदधनप्रदोऽनघधियां स्याद्वाद मार्गाग्रणीः ॥7॥ (अष्ट सहस्त्री)

प्रमाणनयनिर्णीत्वस्तु तत्वमवाधितं ।

जीयात्समन्तभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनं ॥8॥ (युक्त्यनुशासन टीका)

महाकवि वीरनंदी आचार्य ने अपने चन्द्रप्रभ-चरित में स्वामी समन्तभद्र का यशोगान निम्न शब्दों में किया है -

गुणान्वितानिर्मलवृत्त मौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता ।  
 न हारयष्टि परमेवदुर्लभी समन्तभद्रादिमवा च भारती ॥

‘सिद्धान्त-सार-संग्रह’ के रचयिता श्री नरेन्द्रसेनाचार्य ने समन्तभद्र की वाणी को अनघ (निष्पाप) सूचित किया है -

श्रीमत्समन्तभद्रस्य देवास्यापिवचोऽनघं ।  
 प्राणिनां दुर्लभं यद्वमानुषत्वं तथा पुनः ॥

अपभ्रंश के यशस्वी मनीषी भट्टारक यशकीर्ति (लगभग 12वीं सदी) ने अपने ‘चंदप्पह-चरित’ में मुनि समन्तभद्र की वंदना करते हुए शिवपिंडी को फोड़ चन्द्रप्रभ भगवान के अवतरण से राजा रुद्र (शिव) कोटि को रंजित करने का उल्लेख निम्न छंद में किया है -

गामें समन्तभद्रु विमुण्दिं अइ णिम्मत्सु णं पुण्णिमही चंदु ।  
 जिय रंजिउ राया रुद्धकोडि जिणथुति मित्ति सिपिंडि फोडि ॥

संवत् 1727 में कवि दामोदर ने चन्द्रप्रभ-चरित्र की रचना करते हुए स्वामी समन्तभद्र को नमन किया है -

यद्भारत्याः कविः सर्वोऽभवत्सज्ज्ञानपारगः ।  
 तं कविनायकं स्तौमि समन्तभद्र योगिनम् ॥



सं. 1657 में भ. विद्याभूषण के शिष्य श्रीभूषण ने 'पाण्डवपुराण' में स्वामी जी का पुण्य स्मरण किया है -

समंतभद्रो भद्रार्थो भानुभाभारभूषितः ।  
येन देवागमस्तोत्रं कृतं व्यक्तमिहावनौ ॥

इन्हीं ने अपने शान्तिपुराण में स्वामी समंतभद्र को सूर्य की भांति दमकता हुआ माना है -

वाक्यं समन्तभद्रस्य दधेऽहं चित्तकैरवे ।  
येन सूर्यायते नित्यं हृदयाम्बुज कोषके ॥

हरिवंशपुराण के कर्ता पुन्नाट संघी आचार्य जिनसेन (840 वि.स.) ने लिखा है कि समन्तभद्र की वाणी भगवान महावीर की भांति द्योतित है और उन्होने 'जीवसिद्धि' और 'युक्त्यनुशासन' नामक रचनाएं रची थीं -

जीवसिद्धिविधायहि कृतयुक्त्यनुशासनं ।  
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥

आठवीं सदी के धुरन्धर विद्वान आचार्य अकलंक देव ने अपनी अष्टशती में समन्तभद्र को स्याद्वाद-मार्ग के प्रणेता के रूप में प्रणाम किया है -

श्री वर्द्धमानमकलंकमन्दिषवन्धपादारविन्दयुगलं प्रणिपत्य मूर्ध्ना ।  
भव्यैकलोकनयनपरिपालयन्तं स्याद्वादवर्त्म परिणौमि समन्तभद्रम् ।

देवागमवृत्ति (भाष्य) का प्रणयन करते हुए भट्टाकलंकदेव ने समंतभद्र को उनकी विशेषताओं-सहित प्रणाम किया है-

तीर्थं सर्वपदार्थतत्त्वविषय स्याद्वाद पुण्योदधे-,  
र्भव्यनामकलंकभावकृतये प्रभाविकाले कलौ ।  
येनाचार्य समन्तभद्रं यतिना तस्मै नमः संततं,  
कृत्वा विब्रियतेस्तवं भगवतां देवागमस्तत्कृतिः ॥

आचार्य वसुनन्दि सैद्धान्तिक ने स्वामी समन्तभद्र के स्याद्वादशासन की स्तुति निम्न शब्दों में की है-

लक्ष्मीभृत्परमं निरुक्तिनिरतं निर्वाणसौख्यप्रदं,  
कुज्ञानात पवारणाय विधृतं छत्रं यथा भासुरं ।  
सज्ज्ञानैर्नय युक्ति मौक्तिकफलैः सशोभमानं परं,  
वन्दे तद्धत कालदोषममलं सामन्तभद्रम् मतम् ॥

कलिकाल में समन्तभद्र का सप्तभङ्गात्मक मार्ग सबका कल्याणकारी हो ऐसी प्रार्थना श्रवणवेलगोल के शिलालेख में उत्कीर्ण है —

आचार्यस्य समन्तभद्रगण भृद्येनेहकालेकलौ ।

जैन वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्ताद्मुहुः ॥

आचार्य अजितसेन ने अपनी 'अलंकार चिन्तामणि' में तथा कवि हस्तिमल्ल के नाटक 'विक्रान्तकौरव' की प्रशस्ति में स्वामी समन्तभद्र की वाद-विवाद-प्रतिभा का बखान करते हुए लिखा है -

अवदुत्तमटति झटिति स्फुट-पटुवाचाट धूर्जटेर्जिह्वा ।

वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति सति का कथान्येषाम् ॥

'गद्यचिन्तामणि' के कर्ता महाकवि वादीभसिंह सूरि ने स्वामी समन्तभद्र की सिद्ध सारस्वतता को प्रणाम करते हुए उनकी शास्त्रार्थज्ञता को नमन किया है -

सरस्वतीस्वैरविहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखाः मुनीश्वराः ।

जयन्तिवाग्वज्रनिपात पाटित प्रतीपराद्धान्तमहीघ्न कोटयः ॥

श्वेताम्बर विद्वान श्री हरिभद्र सूरि जो भट्टाकलंक देव जैसे से उद्भट और मूर्धन्य मनीषी थे, ने अपनी 'अनेकान्तजय पताका' तथा उसकी स्वोपज्ञ टीका में स्वामी समन्तभद्र को 'वादि मुख्य' के रूप में प्रणन किया है - "आह च वादिमुख्यः समन्तभद्रः" ।

'हनुमच्चरित्र' के कर्ता ब्रह्म अजित ने स्वामी समन्तभद्र की प्रशस्ति निम्न विशेषणों से युक्त अंकित की है -

जीयात्समन्तभद्रोऽ सौ भव्य कैरवचन्द्रमाः ।

दुर्वादिवादकङ्कनां शमनैक महौषधिः ॥

'आदिपुराण' के कर्ता भगवज्जिनसेनाचार्य प्रथम ने स्वामी समन्तभद्र को महाकवि ब्रह्मा के रूप में पुण्य स्मरण किया है -

नमः समन्तभद्राय महते व विवेधसे ।

यद्वचो वज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः ॥

श्री अजितसेनाचार्य ने अपने 'अलंकार चिन्तामणि' ग्रंथ में स्वामीजी को आदि कविकुंजर के रूप में प्रणाम किया है -

श्री मत्समन्तभद्रादिकवि कुंजर संचयम् ।

मुनिवन्द्यंजनानंद नमामि वचनश्रियै ॥

श्री वर्धमान सूरि ने अपने 'वरांग चरित्र' में समन्तभद्र को 'सुतर्कशास्त्रामृतसार सागर' की उपाधि से विभूषित करते हुए उनकी कृपाकांक्षा की अभिलाषा की है -

समन्तभद्रादि महाकवीश्वराः कुवादि विद्याजयलब्धकीर्तयः ।

सुतर्कशास्त्रामृतसारसागरा मयिप्रसीदन्तु कवित्वकांक्षिणि ॥

‘ज्ञानार्णव’ जैसे ध्यान-ग्रंथ के प्रणेता योगीराज आचार्य शुभचन्द्र ने स्वामीजी को ‘कवीन्द्र भास्वान्’ जैसे सशक्त विशेषण से प्रशस्तिसूचक स्तुति की है -

समन्तभद्रादिकवीन्द्र भास्वतां स्फुरन्ति यत्रामल सूक्तिरशगयः ।  
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धताः जनाः ॥

ग्यारहवीं सदी के महाकवि वादिराज सूरि ने अपने ‘यशोधर चरित’ में स्वामी समन्तभद्र को ‘उत्कृष्ट काव्यमणियों का पर्वत’ कहकर वंदना की है -

श्री मत्समन्तभद्राद्याः काव्यमाणिक्यरोहणाः ।  
सन्तु नः संततोत्कृष्टाः सूक्तिरत्नोत्करप्रदाः ॥

इन्हीं कवि ने अपने ‘पार्श्वनाथ चरित’ में स्वामीजी के ग्रंथों का उल्लेख करते हुए स्तुति की है -  
स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहं, देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ।  
त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्य सुखावहः अर्थिनेभव्यसार्थाय दिष्टोरत्नकरण्डकः ॥

अन्यत्र भी लिखा है -

अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवंद्यो हितैषिणा ।  
शब्दाश्च येन सिध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलंभिताः ॥

सोलहवीं सदी के भट्टारक शुभचन्द्र ने अपने ‘पाण्डव पुराण’ में स्वामी समन्तभद्र की ‘भारत भूषण’ उपाधि से यशोगाथा गाई है -

समन्तभद्रोयद्रार्थोभानु भारतभूषणः ।  
देवागमेन येनात्र व्यक्तोदेवागमः कृतः ॥

‘जिन शतक’ की टीका करते हुए कवि नरसिंह भट्ट ने स्वामी जी के गुणों की स्तुति करते हुए लिखा है -

समन्तभद्रं सद्बोधं स्तुवे वरगुणालयं ।  
निर्मलं यद्यशब्दान्तं वभूव भुवनत्रयं ॥

आचार्य शिवकोटि ने अपनी ‘रत्नमाला’ में स्वामीजी को अपने मनमंदिर में बिठाया है -

स्वामी समन्तभद्रो मेऽहर्निशं मानसेऽनघ ।  
तिष्ठताजिनराजोद्यच्छासनाम्बुधिचन्द्रमाः ॥

बीसवीं सदी में स्वामी समन्तभद्र के परम भक्त आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार स्वामी जी की स्तुति गाते हुए लिखते हैं -

यस्य सच्छासनं लोके स्याद्वादऽमोघलाच्छनम् ।  
सर्वभूतदयोपेतं दमत्याग समाधिमृत ॥१॥

नयप्रमाणसम्पुष्ट सर्वबाधा विवर्जितं ।

सार्वमन्वैरजय्यं च तं वीरं प्रणिदधमहै ॥२॥

यद्भक्ति भावनिरता मुनयोऽकलंक, विद्यादिनन्द जिनसेनसुवादिराजाः ॥

गायन्ति दिव्यवचनैः सुयशांसि यस्य, भूयाच्छिष्यैस युगवीर समन्तभद्रः ॥३॥

देवागमहिन्दी टीका (पूरा स्तोत्र परिशिष्ट 'अ' पर देखें)

दक्षिण के एक कवि नागराज (1253 शक. सं.) स्वामी समन्तभद्र की भारती से इतना अधिक प्रभावित हुए थे कि उन्होंने आठ श्लोकों का एक सशक्त स्तोत्र 'समन्तभद्र भारती स्तोत्र' शीर्षक से संस्कृत में रचा था (यह परिशिष्ट 'ब' पर प्रकाशित है)।

स्वामी समन्तभद्र का स्तुतिगान साहित्यकारों, कवियों, आचार्यों या मुनियों तक ही सीमित नहीं रहा अपितु उनके अन्य प्रशंसक उनकी यशोगाथाएं शिलालेखों में भी उत्कीर्ण करा गये हैं जो अनन्तकाल तक चिरस्थायी रहेंगी उनमें से कुछ शिलालेखों का उल्लेख हम यहाँ करना चाहते हैं -

श्रवणवेलगोल में सिद्धरवस्ती में दक्षिणी ओर पर एक स्तम्भ पर शक सं. 1355 तदनुसार 1433 ई. के उत्कीर्णित लेख में स्वामीजी को जिन-शासन का प्रणेता लिखा है, यथा-

समन्तभद्रोऽजनिभद्रमूर्तिस्ततः प्रणेता जिनशासनस्य ।

यदीयवाग्वज्रकठोरपातश्चूर्णीचकार प्रतिवादिशैलान् ॥१४॥<sup>12</sup>

इसी वस्ती के उत्तरी ओर के स्तम्भ पर ई. सन् 1498 के प्रस्तर लेख में स्वामी जी के प्रति वंदना करते हुए लिखा है -

समन्तभद्रस्स चिरायजीयाद्वादीभवज्रांकुशसूक्तिजालः ।

यस्य प्रभावात्सकलावनीयं वन्ध्या स दूर्वादुक्वार्तयोऽपि ॥ १७॥

स्यात्कारमुद्रितसमस्तपदार्थपूर्णम्, त्रैलोक्यहर्म्यमखिलं सखलुव्यनक्ति ।

दूर्वादुकोक्तितमसापिहितान्तरालं, सामन्तभद्रवचनस्फुटरत्नदीपः ॥१८॥<sup>13</sup>

श्रवणवेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर महानवमी मण्डप में शक सं. 1085 ई. सन् 1163 के प्रस्तर लेख में स्वामीजी के लिए लिखा है -

एवं महाचार्य परम्परायां स्यात्कारमुद्रांकिततत्त्वदीपः ।

भद्रस्समन्ताद्गुणतो गणीशस्समन्तभद्रोऽजनिवादिस्सिंहः ॥१९॥

इसी पर्वत की पार्श्वनाथवस्ति के एक स्तम्भ लेख पर 1128 ई., शक सं. 1050 में स्वामी समन्तभद्र के विषय में लिखा है<sup>15</sup> -

वन्द्योभस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता,

दत्तोदात्तपदस्वमंत्रवचनव्याहृतचन्द्रप्रभः ।

आचार्यस्समन्तभद्रगणभृद्येनेहकाले कलौ,

जैनवर्त्मसमन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः ॥६॥

चूर्ण ॥, यस्यैवं विधावादारंभसंरभ विजृंभिताभिव्यक्तस्मृतयः ।

साथ ही पृष्ठ एक पर अंकित 'पूर्व पाटलि पुत्र मध्य -----' इत्यादि श्लोक भी अंकित है तथा 'विक्रान्त कौरव' की प्रशस्ति में उल्लिखित 'अवदुतरमरति -----' इत्यादि श्लोक भी उत्कीर्णित है। तिरुमकूउलुन रसीपुर ताल्लुके के शक सं. 1105 तदनुसार 1183 ई. के शिलालेख में उत्कीर्णित है कि स्वामी समन्तभद्र ने वाराणसी के राजा के आगे विपक्षियों को पराजित किया था -

**समन्तद्रस्संस्तुत्यः कस्य न स्यान्मुनीश्वरः ।**

**वाराणसीश्वरस्याग्रे निर्जिता येन विद्विषः ॥16॥**

ई. सन् 1077 तदनुसार शक सं. 999 में शिमोगा जिले नगर तालुके में हूमच स्थान से मिले एक बड़े कनड़ी शिलालेख में स्वामी समन्तभद्राचार्य को 'कालिकाल गणधर' और 'शास्त्रकार' विशेषणों से अलंकृत किया है। यथा -

**इत्त कलिकालवर्त्तनेयिं गणभेदं पुहिदुद् अवर अन्वयक्रमदिंकलिकाल गणधरं शास्त्रकर्तुमलुम एनिसिद समन्तभद्रस्वामिगलु . -----"।<sup>17</sup>**

आचार्य वसुनन्दि ने देवागम की संस्कृत टीका में स्वामी समन्तभद्र को 'त्रिभुवनलब्धजयपताक' 'प्रमाणनयचक्षु' और 'स्याद्वाद शरीर', 'तार्किक चूडामणि' - जैसे विशेषणों से अलंकृत किया है।

साहित्य में चित्रकाव्य की रचना कोई विशिष्ट काव्य-कौशल का ज्ञाता मनीषी ही कर सकता है जो अद्भुत व्याकरण-पाण्डित्य और अद्वितीय शब्दाधिपत्य से युक्त सशक्त लेखनी का धनी हो। स्वामी समन्तभद्राचार्य ऐसी ही अद्भुत प्रतिभा के धनी थे तभी वे 'स्तुतिविद्या' जैसी सशक्त शब्दालंकार और चित्रालंकारों से युक्त रचना का प्रसन्नवण कर सके। संस्कृत साहित्य के इतिहास में ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न मनीषी कुछ विरले ही, अंगुलियों पर गिनने लायक हैं। ऐसा लगता है कि चित्रकाव्य के सर्वप्रथम षष्ठा स्वामी समन्तभद्राचार्य ही रहे हों। इनसे पूर्व ऐसी विशिष्ट चित्रकाव्यात्मक कृति कतई दृष्टिगोचर नहीं होती है। सम्भवतः चित्रकाव्य की यह सबसे पहली ही रचना हो। इस रचना के निम्न अंतिम पद्य में आचार्य श्री ने जहां देवाधिदेव भगवान् जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए स्व-पर-कल्याण की कामना की है वहीं चित्रालंकार के रूप में छः आरों तथा दशवल्लयों से युक्त चक्रवृत्त के रूप में परिवर्तित करने पर इसमें से इस रचना का नाम 'जिनः स्तुतिशतं' तथा इसके कर्ता 'शान्ति वर्मकृतं' से नाम भी ध्वनित होता है तथा मूलगर्भ स्थान में 'म' एक ऐसा अक्षर फिट होता है जो सारे पद्य के तीनों चरणों के मध्य में निबद्ध हो जाता है, (खुलासा के लिए परिशिष्ट 'स' पर चक्रवृत्त देखिए) पद्य निम्न प्रकार है -

**गत्वैकस्तुतमेव वासमधुना तं येच्युतं स्वीशते**

**यन्नत्यैति सुशर्म पूर्णमधिकां शान्तिं व्रजित्वाध्वना ।**

**यद्भवन्त्या शमिताकृशाघमरुजं तिष्ठेज्जनः स्वालये,**

**ये सद्भोगकदायतीव यजते ते मे जिनाः सुश्रिये ॥११६॥**

अंत में 'लाम्बुश' शब्द की चर्चा करते हुए हम लेखनी को विराम देते हैं। 'काञ्च्यां नम्राटकोऽहम् ----' इत्यादि श्लोक में लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः वाक्य है जिसका अर्थ स्व. जुगलकिशोर जी मुख्तार ने स्थान विशेष से किया है पर यह स्थान या जनपद किस प्रदेश में कहां हैं ? कोई उल्लेख नहीं मिलता है। आज 70-75 वर्ष बाद भी हमने बहुत प्रयास किया कि इस स्थान या प्रदेश का पता चल सके पर निराश रहे। स्व. मुख्तार सा. के सहयोगी डा. दरबारीलाल जी कोठिया तथा अन्य विद्वानों से चर्चा के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि 'लाम्बुशे' इस सप्तमान्त पाठ की जगह 'लाम्बुशः' प्रथमान्त पाठ विशेषण के रूप में उपयुक्त ठहरता है जिसका अर्थ है बड़े-बड़े रोमोंवाला संन्यासी, अतः जब तक नई शोध-खोज सामने नहीं आती है तब तक 'लाम्बुशे' की जगह 'लाम्बुशः' पाठ ही श्रेयस्कर होगा। इतिशाम्

1. देवागम स्तोत्र, श्लोक-1।
2. जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, द्वितीय-भाग, पृ. 93- पं. परमानन्द शास्त्री।

पूर्व पाटलिपुत्र मध्यनगरे भेरी मयाताडिता,  
पश्चान्मालव सिन्धु ठक्क विषये काञ्चीपुरे वैदिशे ।  
प्राप्तोऽहं कर हाटके बहुभटे विद्योत्कटे संकटे,  
वादार्यो विचराम्यहं नरपते शार्दूल विक्रीडितम् ॥1॥

काञ्च्यां नम्राटकोऽहं मलमलिन तुनुर्लाम्बुशे पाण्ड पिण्डः,  
पुण्ड्रोण्डे शाक्य भिक्षुदर्शपुर नगरे मिष्टभोजी परिव्राट् ।  
वाराणस्यामभूवं शशिधर धवलः पाण्डरंगस्तपस्वी,  
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैन निर्ग्रन्थवादी ॥2॥

कर्णाटे करहाटके बहुभटे विद्योत्कटे संकटे ।  
वादार्यं विजहार संप्रतिदिन शार्दूल विक्रीडितम् ॥3॥

3. हिस्ट्री ऑफ कनडीज लिटरेचर।
4. युक्त्यनुशासन, प्रस्तावना, पृ. 45।
5. स्तुतिविद्या, प्रस्तावना, पृ. 25।
6. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, प्रस्तावना, पृ. 62।
7. जिनसहस्रनाम, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।
8. आसमीमांसा, प्रस्तावना, पृ. 42-43।
9. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री, पृ. 174।
10. स्तुतिविद्या, पृ. 141।
11. तीर्थंकर महावीर और उनकी उनचार्य परम्परा, भाग-2, पृ. 183-184।
12. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, पृ. 211।
13. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, पृ. 198।
14. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, पृ. 25।
15. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, पृ. 102।
16. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, प्रस्तावना, पृ. 33।
17. एपिग्रेफिया कर्णाटिका, भाग आठवां।

## समन्तभद्र स्तोत्र

(स्व. श्री जुगलकिशोर मुख्तार, सरसावा)

श्री वर्द्धमानवरभुक्त सुकर्मयोगी, सद्बोधचारु चरिताऽनघवाक्स्वरूपी ।  
 स्याद्वाद तीर्थ जल पूत समस्त गात्रः जीयात्स पूज्य गुरुदेव समन्तभद्रः ॥१॥

दैवज्ञमान्त्रिक भिषग्वर तान्त्रिको यः सारस्वतं सकल सिद्धिगतं च यस्य ।  
 मान्यः कविर्गमक वाग्मि शिरोमणिः स, वादीश्वरोजयति धीर समन्तभद्रः ॥२॥

सर्वज्ञ शासन परीक्षण लब्ध कीर्तिर एकान्तगाढ तिमिराऽर्दन तिग्मरश्मिः ।  
 तेजोनिधिः प्रवरयोगयुतोयतिर्यः, सोऽज्ञानमाशु विधुनोतु समन्तभद्रः ॥३॥

आज्ञा सुसिद्ध गुणरत्नमहोदधिर्यो, ह्याचार्यवर्य सुकृती स्ववशी वरेण्यः ।  
 सोऽन्वर्थसंज्ञ इहलोक हितेऽनुरक्तः, श्रेयस्तनोतु सुखधाम समन्तभद्रः ॥४॥

येन प्रणीतमखिलं जिनशासनं च, काले कलौ प्रकटितं जिनचन्द्रबिम्बम् ।  
 प्राभावि भूपशिवकोटि शिवायनं वै, स्वामी स पातु यतिराज समन्तभद्रः ॥५॥

देवगामादिकृतयः प्रभवन्तियस्य, यासां समाश्रयणतः प्रतिबोधमाप्ताः ।  
 पात्रादिकेसरि समा बहवो बुधाः स, चेतः पुनातु वचनर्द्धि समन्तभद्रः ॥६॥

यद्भारती सकल सौख्यविधायिनीहि, तत्त्व-प्ररूपणपरा नयशालिनी वा ।  
 युक्त्याऽऽगमेन च सदाऽप्य विरोधरूपा, सद्ब्रह्मदर्शयतु शास्त समन्तभद्रः ॥७॥

यस्यप्रभाववशतः प्रतिभापरस्य मूकंगताः सुनिपुणाः प्रतिवादिनोऽपि ।  
 वाचाट धूर्जटि समाः शरणं प्रयाताः, प्राभाविको जयतु नेतृ समन्तभद्रः ॥८॥

श्रीवीरशासनवितानधिया स्ततंत्रो, देशान्तराणि विजहार पदर्द्धिको यः ।  
 तीर्थ सहस्रगुणितं प्रभुणा तु येन, पूयात्स भावि जिनराज समन्तभद्रः ॥९॥

यद्भयानतः स्फुरति शक्तिरनेकरूपानिघ्नः प्रयान्ति विलयं सुफलन्तिकामाः ।  
 मोहं त्यजन्ति मनुजाः स्वहितेऽनुरक्ताः, भद्रं प्रयच्छतुं मुनीन्द्र समन्तभद्रः ॥१०॥

यद्भक्तिभाव निरता मुनयोऽकलंक, विद्यादिनन्द जिनसेन सुवादिराजाः ।  
 गायन्ति दिव्यवचनैः सुयशांसियस्य, भूयाच्छ्रियै स युगवीर समन्तभद्रः ॥

## समन्तभद्र भारती स्तोत्र

(श्री नागराज 'उभयकविता' विलास शक सं. 1253)

संस्मरीमि तोष्टवीमि ननमीमि भारती तंतनीमि पंपटीमि वंभणीमि तेमितां ।  
 देवराजनागराजमर्त्यराज पूजितां, श्री समन्तभद्रवाद भासुरात्म गोचरां ॥१॥

मातृ मान मेघ सिद्धिवस्तुगोचरां स्तुवे, सप्तभंग सप्त नीतिगम्यतत्वगोचरां ।  
 मोक्षमार्गं तद्विपक्षभूरिधर्म गोचरा, माप्तत्व गोचरां समन्तभद्रभारती ॥२॥

सूरिसूक्ति वंदितामुपेयतत्वभाषिणीं चारु कीर्तिभासुरामुपाय तत्व साधनीं ।  
 पूर्वपक्ष खंडन प्रचण्ड वाग्विलासिनीं संस्तुवे जगद्धितां समन्तभद्रभारती ॥३॥

पात्रकेसरि प्रभाव सिद्धिकारिणी स्तुवे, भाष्यकार पोषितामलंकृतां मुनीश्वरैः ।  
 गृह्णपिच्छभाषितप्रकृष्ट मंगलार्थिकां, सिद्धिसौख्य साधनीं समन्तभद्रभारती ॥४॥

इन्द्रभूतिभाषित प्रमेयजालगोचरां, वर्द्धमान देव बोध बुद्ध चिद्विलासिनीं ।  
 योग सौगतादिगर्वपर्वताशनिं स्तुवे, क्षीरवार्थिसन्निमां समन्तभद्र भारती ॥५॥

माननीतिवाक्य सिद्धवस्तु धर्मगोचरां, मानित प्रभावसिद्ध सिद्धिसिद्धसाधनीं ।  
 घोर भूरि दुख वार्थितारणाक्षमामिमां, चारुचेत सास्तुवे समन्तभद्रभारतीम् ॥६॥

सान्तनाद्यनाद्यनन्त मध्ययुक्त मध्यमां, शून्य भाव सर्ववेदितत्व सिद्धिसाधनीं ।  
 हेत्वहेतुवाद सिद्धवाक्य जालभासुरां, मोक्षसिद्धये स्तुवे समन्तभद्रभारतीम् ॥७॥

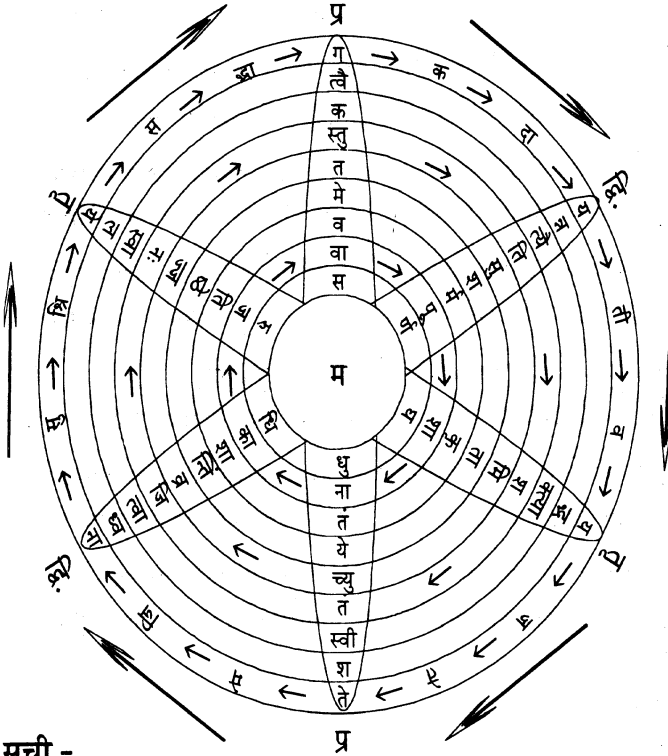
व्यापकद्वयाप्त मार्गं तत्व युग्मगोचरां, पापहारि वाग्विलासिभूषणांशुकां स्तुवे ।  
 श्री करीच धीकरीं च सर्व सौख्यदायिनी, नागराज पूजितां समन्तभद्रभारतीम् ॥८॥

‘कर्णाटक कवि चरित’ से इनका रचा ‘पुण्याश्रवचम्पू’ ग्रंथ भी मिलता है ।



## कवि काव्यनाम गर्भ चक्रवृत्तम्

गत्वैकस्तुतमेव वासमधुना तं येच्युतं स्वीशते,  
 यन्नत्यैति सुशर्मपूर्णमधिकां शान्तिं ब्रजित्वाध्वना ।  
 यद्भक्त्या शमिताकृशाधमरुजं तिष्ठेज्जनः स्वालये,  
 ये सद्भोगकदायतीव यजते ते मे जिनाः सुश्रिये ॥११६॥ (स्तुतिविद्या)



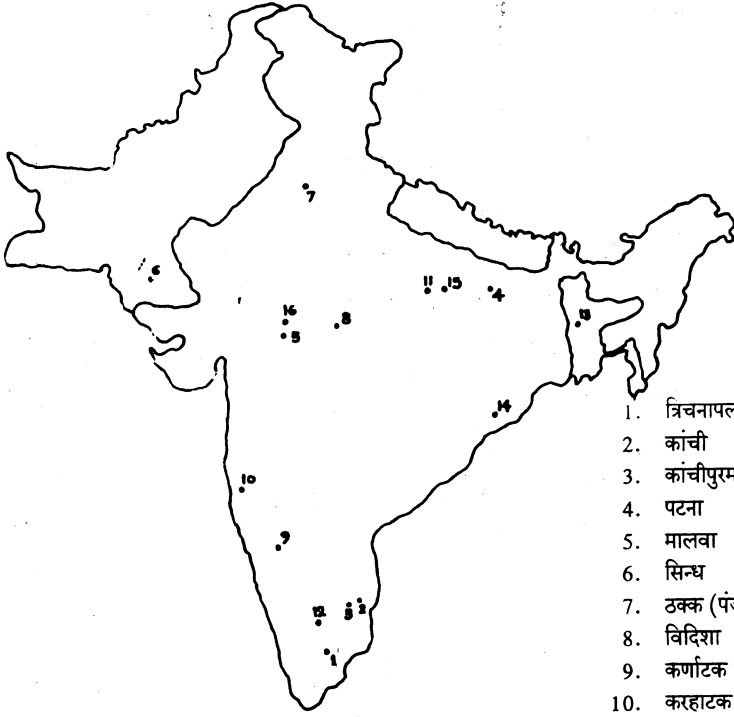
### संकेत सूची -

- प्र. - प्रथम चरण 'गत्वैक ---- स्वीशते'  
 द्वि. - द्वितीय चरण 'यन्नत्यैति --- ब्रजित्वाध्वना'  
 तृ. - तृतीय चरण 'यद्भक्त्या--- स्वालये'

प्रथम वलय के अक्षर 'ये' (तृ.) से चतुर्थ चरण 'ये सद्भोग कदायतीव--- शुरु होता है। चौथे वलय के 'जि' से लेकर वलयाकार शब्दों में 'जिनस्तुतिशतं' ग्रंथ का नाम ध्वनित होता है। सातवें वलय के 'शा' से लेकर वलयाकार शब्दों में 'शान्तिवर्मकृत' ग्रंथ कर्मा स्वामी समन्तभद्राचार्य का नाम ध्वनित होता है।

परिशिष्ट 'द'

## स्वामी समन्तभद्राचार्य की यायावरी का मानचित्र



1. त्रिचनापल्ली
2. कांची
3. कांचीपुरम (कांजीवरम)
4. पटना
5. मालवा
6. सिन्ध
7. ठक्क (पंजाव)
8. विदिशा
9. कर्णाटक
10. करहाटक (कोल्हापुर)
11. कौशाम्भी
12. मणवक हल्ली
13. पुण्ड्र (बंगाल)
14. उड्र (उडीसा)
16. वाराणसी

परिशिष्ट 'स' और 'द' हमारे पुत्र चि. राजेश जैन B.Arch. ने बड़ी सुन्दरता और सफाई से तैयार किये हैं अतः ये शुभाशीष और धन्यवाद के पात्र हैं। इस विस्तृत लेख में जिन मनीषियों की सामग्री का उपयोग किया गया है उन सबके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। विशेषतया स्व. जुगलकिशोर जी मुख्तार सा. को जिन्होंने अब से लगभग 70-75 वर्ष पूर्व स्वामी समन्तभद्र पर विशेष शोध-खोजकर जैन वाङ्मय के भण्डार को श्रीसम्पन्न और समृद्ध किया था।

श्रुति कुटीर

68, विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली - 32

## फलं कुतः

यदि सत्सर्वथा कार्यं पुंवनोत्पत्तुमर्हति ।  
परिणाम प्रकृप्तिश्च नित्यत्वैकान्तबाधिनी ॥39॥

पुण्यपापक्रिया न स्यात्प्रेत्यभावःफलं कुतः ।  
बन्धमोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायकः ॥40॥

यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्मा जनि खुपष्पवत् ।  
मोपादाननियामो भून्माश्वासः कार्यजन्मनि ॥41॥

- आप्तमीमांसा

- कार्य को यदि सर्वथा सत् माना जाय तो चैतन्य पुरुष की तरह उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । वस्तु में परिणाम की कल्पना नित्यत्व के एकान्त की बाधक है ।

- हे भगवन्, सर्वथा नित्यत्व-एकान्तवादियों के यहाँ पुण्य-पाप की क्रिया नहीं बनती, परलोक-गमन भी नहीं बनता, फल-प्राप्ति की तो बात ही कहाँ से हो सकती है ? और न बन्ध तथा मोक्ष ही बन सकते हैं । यदि कार्य सर्वथा असत् है तो आकाश-पुष्प के समान उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि असत् का भी उत्पाद माना जाय तो फिर उपादान कारण का कोई नियम नहीं रहता और न कार्य की उत्पत्ति में विश्वास रहता है ।

अनु. - पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

## आचार्य समन्तभद्र और उनकी कृति आप्तमीमांसा/देवागम स्तोत्र

-डॉ. रमेशचन्द्र जैन



स्वामी समन्तभद्र (विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी) का जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ था। उनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुर के राजा थे। यह बात उनकी कृति आप्तमीमांसा की एक प्राचीन ताड़पत्रीय प्रति के निम्नलिखित पुष्पिका वाक्य से जाना जाता है। यह प्रति श्रवणबेलगोल के श्री दौर्बलिजिनदास शास्त्री के शास्त्रभण्डार में सुरक्षित है।<sup>1</sup>

‘इति श्री फणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्री स्वामिसमन्तभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम् ।’

उरगपुर पाण्ड्य देश की राजधानी जान पड़ता है। इसका उल्लेख कालिदास ने भी किया है-  
‘अथोरगाह्यस्य पुरस्य नाथं’ (रघुवंश 6/59)।

### समन्तभद्र की रचनाएं

आचार्य समन्तभद्र द्वारा प्रणीत रचनाएं निम्नलिखित मानी जाती हैं -

- |                                  |                      |
|----------------------------------|----------------------|
| 1. वृहत्स्वयम्भू स्तोत्र         | 2. स्तुतिविद्या      |
| 3. आप्तमीमांसा या देवागम स्तोत्र | 4. युक्त्यनुशासन     |
| 5. रत्नकरण्ड श्रावकाचार          | 6. जीवसिद्धि         |
| 7. प्रमाण पदार्थ                 | 8. तत्त्वानुशासन     |
| 9. प्राकृत व्याकरण               | 10. कर्मप्राभृत टीका |
| 11. गन्धहस्तिमहाभाष्य।           |                      |

## आप्तमीमांसा

यथार्थ उपश्लेषा को आप्त कहते हैं। 'यो यत्र अवञ्चकः स तत्र आप्तः - जो जहाँ अवञ्चक है वह वहाँ आप्त है, ऐसा कहा जाता है। किसी विषय पर भली-भाँति ऊहापोह करना - विचार करना-तर्कणा करना मीमांसा कहलाती है। आप्तमीमांसा में कौन आप्त हो सकता है ? इसकी मीमांसा की गयी है। प्रायः प्रत्येक भारतीय आस्तिक दर्शन ने अपने मत की पुष्टि के लिए आप्त का सहारा लिया है। यदि सभी को आप्त माना जाय तो उनमें मतभेद क्यों है ? इस समस्या के निराकरण हेतु आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा लिखी है। इसकी गम्भीर और युक्तिपरक शैली से आकृष्ट होकर ही आचार्य अकलंकदेव ने इस पर अष्टशती और आचार्य विद्यानन्द ने अष्टसहस्री की रचना की है। वह अष्टसहस्री भी इतनी कठिन है कि उसे समझने में विद्वानों को भी कष्ट सहस्री का सामना करना पड़ता है। इसमें देवागम का विशेष अलङ्कार है, अतः इसे देवागमालङ्कार के नाम से भी कहते हैं अथवा समन्तभद्र द्वारा कृत आप्तमीमांसा को सामने रखकर यह व्याख्यानरूप अलंकार किया गया है, अतः इसे आप्तमीमांसांकार भी कह सकते हैं। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में स्वयं ग्रन्थकार ने कहा है-

**श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः ।**

**विज्ञायेत ययैव स्वसमय परसमय सद्भावः ॥**

- हजार शास्त्र के सुनने से क्या लाभ है ? केवल एक अष्टसहस्री के सुनने से ही प्रयोजन सिद्ध हो सकता है, जिसके सुनने से स्वसमय और परसमय का बोध हो जाता है।

आप्तमीमांसा या देवागमस्तोत्र पर वसुनन्दि सिद्धान्तदेव का देवागम वृत्ति नामक ग्रन्थ भी है। इससे श्लोकों के अर्थमात्र की सूचना प्राप्त होती है। आप्तमीमांसा दश परिच्छेदों में विभक्त है। इसमें देवागम नभोयान, चामरादि विभूतियों के कारण भगवान् स्तुति करने योग्य नहीं हैं, इसकी सहेतुक व्याख्याकर सर्वज्ञता विषयक अनुमानकर यह सिद्ध किया गया है कि सर्वज्ञ, वीतरागपना अरहन्तदेव में ही है; क्योंकि उनके वचन युक्ति और शास्त्र के अविरोधी हैं। अविरोधी इसलिए हैं कि उनका इष्ट तत्त्व प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि से बाधित नहीं होता है। अरहन्त मत से बाह्य, सर्वथा एकान्तवादी, आप्त के अभिमान से दग्ध लोगों का इष्टतत्त्व प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होता है। स्व-पर-वैरी एकान्तवादियों के यहाँ शुभाशुभ कर्म, परलोकादि का निषेध ठहरता है। एकान्तवादियों में भावैकान्त, अभावैकान्त, भावाभावैकान्त, अवक्तव्यैकान्त, द्वैतैकान्त, अद्वैतैकान्त, द्वैताद्वैतैकान्त, अवक्तव्यैकान्त, नित्य एकान्त, अनित्य एकान्त, नित्य और क्षणिक इन दोनों का एकान्त, अवक्तव्यैकान्त, धर्म और धर्मी की अपेक्षा, अनपेक्षा का एकान्त, हेतु और आगम विषयक एकान्त, अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग तत्त्व विषयक एकान्त, दैव एकान्त, पुरुषार्थैकान्त, पुण्य-पाप विषयक एकान्त, अज्ञान से बन्ध और अल्पज्ञान से मोक्ष इत्यादि एकान्त आते हैं। इन सबकी समीक्षा आप्तमीमांसा में है।

एकान्तवाद की समीक्षाकर जीवों की शुद्धि, अशुद्धि, प्रमाण का स्वरूप, संख्या, विषय और फल, स्यात् पक्ष का स्वरूप, स्याद्वाद और केवल ज्ञान की समानता, नय की हेतुवादकता, प्रमाण विषयक अनेकान्तात्मक वस्तु का स्वरूप, प्रमाण वाक्य और नय वाक्य तथा स्याद्वाद की संस्थिति का वर्णन किया

गया है।

सम्पूर्ण रूप से यह कहा जा सकता है कि अपने प्रतिपाद्य विषय की अपेक्षा आप्तमीमांसा 'गागर में सागर' की उक्ति को चरितार्थ करती है। इसके विषय की व्यापकता को देखते हुए भट्ट अकलङ्क और विद्यानन्द की टीकाओं के बाद उपाध्याय यशोविजय ने अष्टसहस्री तात्पर्यविवरण लिखा। आप्तमीमांसा भारतीय दर्शन के विश्वकोष को अपने में समाहित किए हुए है।

श्री वादिराजसूरि ने न्यायविनिश्चयालंकार में लिखा है कि सर्वत्र फैले हुए दुर्नयरूपी प्रबल अन्धकार के कारण जिसका तत्त्व लोक में दुर्बोध हो रहा है, वह हितकारी वस्तु श्रीमत्समन्तभद्र के वचनरूप देदीप्यमान रत्नदीपकों के द्वारा हमें सब ओर से स्पष्ट प्रतिभासित हो।<sup>2</sup>

समन्तभद्र के परवर्ती जैन दार्शनिक उनसे किसी न किसी रूप में प्रभावित अवश्य हैं। उनके 'आप्तमीमांसा' नामक प्रकरण पर अकलङ्कदेव ने अष्टशती भाष्य की रचना की। आप्तमीमांसा में प्रत्येक तत्त्व को अनेकान्त की कसौटी पर कसा गया है। अकलङ्क देव ने राजवार्तिक में तत्त्वविषयक प्रत्येक सिद्धि अनेकान्त के आधार पर की है। आचार्य विद्यानन्द ने अकलङ्कदेव की अष्टशती पर आठ हजार श्लोक-प्रमाण अष्टसहस्री की रचना की। सर्वज्ञ की सिद्धि में प्रायः जैन ग्रन्थकारों ने समन्तभद्र का सहारा लिया है। कई ने उनका नामोल्लेख किया है। अनेक स्थल पर उन्हें स्वामी शब्द से अभिहित किया गया है। अकलङ्कदेव (विक्रम की सातवीं शताब्दी) ने अपनी अष्टशती में समन्तभद्र को 'भव्यैकलोक नयन' भव्य जीवों के हृदयान्धकार को दूर करके अन्तः प्रकाश करने तथा सन्मार्ग दिखलानेवाला अद्वितीय सूर्य और स्याद्वाद-मार्ग का पालक बतलाते हुए यह भी लिखा है कि उन्होंने सम्पूर्ण पदार्थों को अपना विषय करनेवाले स्याद्वादरूपी पुण्योदधि तीर्थ को इस कलिकाल में भव्य जीवों के आन्तरिक मल को दूर करने के लिए प्रभावित किया है - उसके प्रभाव को सर्वत्र व्याप्त किया है और ऐसा लिखकर उन्हें बार-बार नमस्कार किया है।<sup>3</sup>

देवागम स्तोत्र के माध्यम से आचार्य समन्तभद्र ने कुछ उपादानों की सृष्टिकर उन्हें जैनदर्शन को प्रदान किया है। वे इस प्रकार हैं-

1. प्रमाण का स्व-परावभासि लक्षण।
2. प्रमाण के अक्रमभावि और क्रमभावि भेदों की परिकल्पना।
3. प्रमाण के साक्षात् और परम्परा फलों का निरूपण।
4. प्रमाण का विषय।
5. नय का स्वरूप।
6. हेतु का स्वरूप।
7. स्याद्वाद का स्वरूप।
8. वाच्य का स्वरूप।
9. वाचक का स्वरूप।
10. अभाव का वस्तु धर्म निरूपण एवं भावान्तर कथन।
11. तत्त्व का अनेकान्त रूप प्रतिपादन।

12. अनेकान्त का स्वरूप ।
13. अनेकान्त में भी अनेकान्त की योजना ।
14. जैनदर्शन में अवस्तु का स्वरूप ।
15. अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि ।
16. स्यात् निपात का स्वरूप ।
17. युक्तियों से स्याद्वाद की व्याख्या ।
18. आप्त का तार्किक स्वरूप ।
19. वस्तु (द्रव्य-प्रमेय) का स्वरूप ।

उपर्युक्त योगदान के कारण ही आचार्य समन्तभद्र जैन न्याय के प्रवर्तक कहे जाते हैं। भट्ट अकलङ्कदेव तथा आचार्य विद्यानन्द ने अपने अष्टशती तथा अष्टसहस्री ग्रन्थ में मञ्जलरूप पद्यों द्वारा स्वामीजी को वर्द्धमान महावीर के विशेषण में निवेशित कर भगवान् सदृश ही नमस्कार भाव प्रदर्शित किया है ।

**श्रीवर्द्धमानमकलङ्कमनिन्द्यवन्द्य, पादारविन्दयुगलं प्रणिपत्य मूर्ध्ना ।  
भव्यैकलोकनयनं परिपालयन्तम्, स्याद्वादवर्त्म परिभौमि समन्तभद्रम् ॥अष्टशती॥**

**श्रीवर्द्धमानमभिवन्द्य समन्तभद्रमुद्भूत बोधमहिमानमनिन्द्यवाचम् ।  
शास्त्रावताररचितस्तुति गोचराप्त मीमांसितं कृतिरलंक्रियते मयास्य ॥अष्टसहस्री॥**

उनके व्यक्तित्व को उजागर करनेवाला यह आत्मपरिचयात्मक पद्य किंचित् भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं लगता, जिसमें वे कहते हैं-

**आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराद् पण्डितोऽहं ।  
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहं ॥  
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलायां ।  
आज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्ध सारस्वतोऽहं ॥**

-हे राजन् ! इस समुद्रवलयरूप पृथ्वी पर मैं आचार्य, कवि, वादिराद्, पण्डित, दैवज्ञ, भिषक् मान्त्रिक, तान्त्रिक, आज्ञासिद्ध और सिद्ध सारस्वत हूँ। अन्त के दो विशेषण विशेष महत्व के हैं, जिनमें वे कहते हैं कि मैं आज्ञा-सिद्ध हूँ, जो आदेश देता हूँ वही होता है और मैं सिद्धसारस्वत हूँ, अर्थात् मुझे सारस्वती सिद्ध है ।

1. युक्त्यनुशासन - पं. जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ. 44 ।
2. स्वयम्भू स्तोत्र - पं. जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ. 91 ।
3. देवागम/आप्तमीमांसा, डॉ. दरबारीलाल कोठिया द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ. 45 ।

जैन मन्दिर के पास

बिजनौर (उ.प्र.) - 246701

## समन्तभद्र के दर्शन में 'आप्त' की अवधारणा

- डॉ. राजवीरसिंह शेखावत

जगत् एवं उसकी वस्तुओं के स्वरूप, उत्पत्ति, नित्यता-अनित्यता, अस्तित्व, आत्मा, मोक्ष, कर्म, पुण्य-पाप आदि विषयों को लेकर लोक में अनेक मान्यताएं प्रचलित हैं। परन्तु वस्तुतः वे सभी मान्यताएं परस्पर विरोधी होने के कारण न तो यथार्थ हैं और न ही वे वस्तुस्थिति को व्यक्त करती हैं। फिर भी उनके प्रवर्तकों ने अपनी मान्यताओं अथवा मतों के परस्पर विरोधी होने पर भी यथार्थ होने का दावा किया है। ऐसी स्थिति में सामान्यजन के सामने यह समस्या आती है कि उन प्रचलित मान्यताओं अथवा मतों में से किस मान्यता अथवा मत को सही माना जाय ? सामान्यतः यह माना जाता है कि 'आप्त' के द्वारा बतलायी गई मान्यता अथवा मत ही सही है। किन्तु, प्रायः सभी मान्यताओं के प्रवर्तकों ने अपनी-अपनी मान्यताओं के यथार्थ होने के दावे साथ स्वयं के 'आप्त' होने का भी दावा किया है। परन्तु उन सभी को उनकी मान्यताओं में परस्पर विरोध होने के कारण 'आप्त' नहीं माना जा सकता, उनमें से किसी एक को 'आप्त' माना जा सकता है।<sup>2</sup> अतः यहां प्रश्न उठता है कि वह 'आप्त' कौन है ? इस प्रश्न का विचार किया जाय इसके पूर्व दो अन्य प्रश्नों पर विचार अपेक्षित है। वे प्रश्न हैं - 'आप्त' से क्या तात्पर्य है ? और 'आप्त' का मानदण्ड क्या है ?

इन प्रश्नों के जवाब में समन्तभद्र के अनुसार<sup>3</sup> जो नियम से वीतरागी, सर्वज्ञ और आगम का ईश है वह 'आप्त'<sup>4</sup> है। नियम से 'वीतरागी', 'सर्वज्ञ' और 'आगम का ईश' होना 'आप्त' का स्वरूप भी है और मानदण्ड भी। किन्तु प्रश्न है कि 'वीतरागी', 'सर्वज्ञ' और 'आगम का ईश' से क्या तात्पर्य है ? अथवा यों



कहें यहां यदि 'वीतरागी', 'सर्वज्ञ' और 'आगम का ईश' पर विचार किया जाय तो 'आप्त' की अवधारणा अधिक स्पष्ट होगी।

'वीतरागी' से तात्पर्य है जिसमें किसी भी प्रकार के दोष न हों, अथवा जिसके समस्त दोषों का नाश हो गया हो। यहां समस्त दोषों से तात्पर्य क्षुधा, तृषा, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, रति, विषाद, खेद, स्वेद, निद्रा और आश्चर्य इन अठारह दोषों से है। इन दोषों से रहित होना ही 'वीतरागी' होना है।<sup>5</sup> यहां प्रश्न उठता है कि यह कैसे माना जाय कि कोई व्यक्ति-विशेष इन दोषों से रहित है अथवा किसी व्यक्ति विशेष के इन समस्त दोषों का पूर्ण क्षय हो जाता है? इस समस्या के समाधान में समन्तभद्र का कहना है कि किसी व्यक्ति-विशेष में इन दोषों का पूर्ण क्षय देखा जाता है, क्योंकि सभी व्यक्तियों में राग आदि दोषों का क्षय अथवा नाश एक-जैसी मात्रा में नहीं रहता है, अपितु उनमें न्यूनाधिक्य रूप से तारतम्य रहता है। जैसे किसी व्यक्ति के दोषों का क्षय एक प्रतिशत है, किसी के दोषों का क्षय दो प्रतिशत, किसी के तीन प्रतिशत और किसी के चार प्रतिशत, किसी के .....। इस प्रकार दोषों के क्षय का यह क्रम वहां तक चलता है जहां समस्त दोषों का पूर्ण क्षय अथवा नाश हो जाता है।<sup>6</sup> इससे फलित होता है कि किसी व्यक्ति-विशेष के समस्त दोषों का पूर्ण क्षय हो जाता है और किसी व्यक्ति विशेष के समस्त दोषों का पूर्ण क्षय होने का अर्थ है उसका समस्त दोषों से रहित होना, अर्थात् 'वीतरागी' होना।

'सर्वज्ञ' से तात्पर्य है जो त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों और उनकी समस्त पर्यायों अर्थात् अवस्थाओं को साक्षात् रूप से जानता है अर्थात् जगत के किसी भी विषय एवं उसकी किसी भी अवस्था से और घटना से अनभिज्ञ न होना। 'सर्वज्ञता' ज्ञान की वह उच्चतम अवस्था है जिसमें आत्मा बिना साधन के ही सूक्ष्म, दूरस्थ, प्रकृष्ट, अतीत और भविष्यत काल के विषयों को साक्षातरूप से जानता है। यह अवस्था तब प्राप्त होती है जब ज्ञान के समस्त आवरणों का नाश हो जाता है। ज्ञान की यही अवस्था 'निरावरण-ज्ञान' अथवा 'केवल-ज्ञान' कहलाता है जो अनन्त और अतीन्द्रिय होता है। इस ज्ञान से युक्त व्यक्ति-विशेष ही 'सर्वज्ञ' कहलाता है।

यहां प्रश्न उठता है कि यह कैसे माना जाय कि कोई व्यक्ति-विशेष 'केवल-ज्ञान' से युक्त है, अर्थात् 'सर्वज्ञ' की सत्ता का प्रमाण क्या है? प्रत्युत्तर में, समन्तभद्र ने अनुमान प्रमाण से 'सर्वज्ञ' की सिद्धि की है। समन्तभद्र के अनुसार जिनका स्वभाव इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता ऐसे पदार्थ, अतीत और अनागत कालवर्ती पदार्थ और दूरवर्ती पदार्थ किसी व्यक्ति-विशेष के प्रत्यक्ष अवश्य हैं; क्योंकि हम उनको अनुमान से जानते हैं। जो पदार्थ अनुमान से जाने जाते हैं वे किसी को प्रत्यक्ष भी होते हैं जैसे हम पर्वत पर अग्नि को अनुमान से जानते हैं, किन्तु पर्वत पर स्थित व्यक्ति उसे प्रत्यक्ष जानता है। इससे यह फलित होता है कि जो पदार्थ किसी के अनुमान के विषय होते हैं वे किसी के प्रत्यक्ष के विषय भी होते हैं और जिनका स्वभाव इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता, ऐसे पदार्थों को अतीत और अनागत कालवर्ती पदार्थों को और दूरवर्ती पदार्थों को हम अनुमान से जानते हैं। अतः उनको प्रत्यक्ष से जाननेवाला भी कोई अवश्य है, और जो व्यक्ति-विशेष उनको प्रत्यक्ष से जानता है वही सर्वज्ञ है।<sup>7</sup> अतः कहा जा सकता है कि 'सर्वज्ञ' की सत्ता है।

‘आगम<sup>8</sup> का ईश<sup>9</sup>’ से तात्पर्य है जो भूत, भविष्य और वर्तमान के समस्त पदार्थों के समस्त पर्यायों अर्थात् अवस्थाओं का और समस्त जीवों के हित-अहित का ज्ञाता है तथा उनका उपदेश करता है, अर्थात् जो जीवों को सभी दुःखों से सदैव के लिए छुटकारा पाने का मार्ग बतलाता है वह ‘आगम का ईश’ है। स्पष्ट है ‘आगम का ईश’ वही हो सकता है जो सर्वज्ञ और वीतरागी हो। बिना सर्वज्ञता एवं वीतरागता के कोई न तो जीवों के हित-अहित का ज्ञाता हो सकता है और न उनका उपदेष्टा।

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट होता है कि ‘वीतरागता’, ‘सर्वज्ञता’ और ‘आगम का ईश’ - ये ‘आप्त’ की तीन प्रमुख विशेषताएं हैं। जिस व्यक्ति-विशेष में ये तीनों विशेषताएं हों वही ‘आप्त’ है। इन तीनों विशेषताओं से युक्त व्यक्ति है, अर्थात् वीतरागी, सर्वज्ञ और आगम का ईश की सत्ता, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, प्रमाणसिद्ध है। अतः ‘आप्त’ की सत्ता है। किन्तु प्रश्न है कि सामान्यजन, अल्पज्ञ यह कैसे निर्धारित करें कि अमुक व्यक्ति ही ‘आप्त’ है? प्रत्युत्तर में समन्तभद्र के अनुसार युक्ति और प्रमाण के द्वारा यह निर्धारित करना चाहिए,<sup>10</sup> अर्थात् जिसके उपदेश युक्तियुक्त, प्रमाण से अबाधित और विरोधरहित हों उसे ही सामान्यजन ‘आप्त’ समझें। इसके विपरीत जिसके उपदेश तर्कसंगत न हों, किसी प्रमाण से बाधित हों और उनमें विरोध हो तब उसे ‘आप्त’ नहीं मानें।

1. यहां ‘आप्त’ शब्द को ‘आप्त-पुरुष’ के अर्थ में लिया गया है।
2. तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः ।  
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥3॥ -आप्तमीमांसा
3. आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।  
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥5॥ -रत्नकरण्ड श्रावकाचार
4. अकलंकदेव के अनुसार जो जिस विषय में अविस्वादाक है वह उस विषय में ‘आप्त’ है। आप्तता के लिए तद्विषयक ज्ञान और उस विषय में अविस्वादाकता अनिवार्य है।  
-यो यत्राविस्वादाकः स तत्राप्तः, ततः परोऽनाप्तः । तत्त्वप्रतिपादनमविस्वादाकः, तदर्थज्ञानात् ।

-अष्टशती - अष्टसहस्री, पृ. 236, आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका में उद्धृत, पृ. 1

5. क्षुत्पिपासाजरातङ्गजन्मान्तकभयस्मयाः ।  
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥6॥ -रत्नकरण्ड श्रावकाचार
6. दोषावरणयोर्हानिर्निशेषास्त्यतिशायनात् ।  
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥4॥ -आप्तमीमांसा
7. सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।  
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ संस्थितिः ॥5॥ -वही  
अन्य जैन दार्शनिकों ने भी ‘सर्वज्ञ’ की सत्ता सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण दिये हैं। अकलंकदेव

ने सर्वज्ञ की सत्ता के पक्ष में तर्क दिया है कि सर्वज्ञ के बाधक प्रमाणों का अभाव सुनिश्चित होने से सर्वज्ञ की सत्ता में कोई सन्देह नहीं है। किसी वस्तु की सत्ता सिद्ध करने के लिए यही 'बाधकाभाव' स्वयं एक बलवान साधक प्रमाण है, जैसे 'मैं सुखी हूँ' यहाँ सुख का साधक प्रमाण यही है कि मेरे सुखी होने में कोई बाधक प्रमाण नहीं है और सर्वज्ञ की सत्ता में भी कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अतः उसकी सत्ता है।

विद्यानन्द ने तर्क दिया कि आत्मा का स्वभाव जानने का है और जानने में जब कोई प्रतिबन्धक न रहे तब वह ज्ञेय पदार्थों से अज्ञ कैसे रह सकता है? जैसे अग्नि का स्वभाव जलाने का है तो कोई प्रतिबन्धक न रहने पर वह जलनेवाले पदार्थ को जलायेगी ही। उसी प्रकार ज्ञान-स्वभाव आत्मा के प्रतिबन्धक के अभाव में वह समस्त पदार्थों को जानेगा ही।

प्रभाचन्द्र के अनुसार, कोई आत्मा सम्पूर्ण पदार्थों का साक्षात्कार करनेवाला है, क्योंकि उसका स्वभाव उनको ग्रहण करने का है और जब ज्ञान के प्रतिबन्धक सभी कारण नष्ट हो जाते हैं तब आत्मा सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है।

अनन्तवीर्य ने सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध करने के लिए 'अनुमान-प्रमाण' का प्रयोग किया है। अनन्तवीर्य के अनुसार सर्वज्ञ की सत्ता का ग्राहक अनुमान-प्रमाण है, जो इस प्रकार है - कोई पुरुष समस्त पदार्थों का साक्षात् करनेवाला है—प्रतिज्ञा,

क्योंकि उन पदार्थों का ग्रहण-स्वभावी होकर प्रक्षीण प्रतिबन्ध ज्ञानवाला है—हेतु,

जो जिसका ग्रहण स्वभावी होकर के प्रक्षीण प्रतिबन्ध ज्ञानवाला होता है वह उस पदार्थ का साक्षात्कारी होता है जैसे तिमिर से रहित नेत्र 'रूप' का साक्षात्कारी होता है—उदाहरण,

उन पदार्थों का ग्रहण स्वभावी होकर प्रक्षीण प्रतिबन्ध ज्ञानवाला है—उपनय।

यहां अनुमान प्रयोग में चार अवयवों का ही प्रयोग किया गया है।

8. 'आगम' से तात्पर्य है भूत, भविष्य और वर्तमान के समस्त पदार्थों का एवं उनकी समस्त पर्यायों अर्थात् अवस्थाओं का और समस्त जीवों के हित-अहित का ज्ञान।
9. 'ईश' से तात्पर्य है सच्चा देव अथवा उपदेष्टा।
10. स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।  
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥6॥ -आप्तमीमांस

12, प्रताप नगर,  
शास्त्री नगर, जयपुर - 16

## ‘युक्त्यनुशासन’ और आचार्य समन्तभद्र

- विद्यावाचस्पति डॉ. श्रीरंजनसूरिदेव

ईसा की द्वितीय शती के सर्वोदयतीर्थवादी आचार्य स्वामी समन्तभद्र आर्हत दर्शन के प्रमाणपुरुष सारस्वताचार्यों में धुरिकीर्त्तनीय हैं। उन्होंने भगवान् महावीर के शासनकल्प प्रवचन को सब प्राणियों के सर्वतोभद्र अभ्युदय तथा आत्मा के पूर्ण अभ्युदय का कारण माना है और इसीलिए अपने कालोत्तीर्ण ग्रन्थ ‘युक्त्यनुशासन’ में उस जिन-शासन को ‘सर्वोदयतीर्थ’ की व्याख्या दी है। इस सन्दर्भ में इस ग्रन्थ का इकसठवाँ श्लोक द्रष्टव्य है -

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं  
सर्वान्त शून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।  
सर्वाऽऽ पदामन्तकरं निरन्तं  
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥61॥

वीर भगवान् को सम्बोधित इस श्लोक या कारिका का तात्पर्य यह है कि भगवान् महावीर का तीर्थ अर्थात् शासन-कल्प प्रवचन सर्वान्तवादी अथवा अनेकान्तवादी है जिसमें गौण और मुख्य दोनों को मूल्य दिया गया है। इसलिए इसमें असंगति या विरोध की स्थिति की सम्भावना नहीं है। भगवान् का शासनवाक्य वस्तु के विभिन्न धर्मों में पारस्परिक अपेक्षा को महत्व न देकर उनमें सर्वनिरपेक्षता की स्थिति का निर्देश करता है, इसलिए वह सर्वान्तशून्य अर्थात् सब धर्मों से शून्य और परस्परानपेक्षी है। इसलिए, भगवान् का शासन-वाक्य अथवा शासनतीर्थ ही सब दुःखों का अन्त करनेवाला है। किन्तु इसकी विलक्षणता यह है कि सर्वदुःखान्तकारी होने पर भी यह निरन्त है, अर्थात् इसका किसी भी मिथ्यादर्शन से खण्डन नहीं हो

सकता। इस प्रकार, सर्वभूत-हितकारी और सर्वाभ्युदयवादी होने के कारण भगवान का शासनवाक्य सर्वोदय तीर्थ के समान है। पूर्ण अभ्युदय, उत्कर्ष और विकास ही सर्वोदय है जो स्याद्वाद-शासन से उपलभ्य है।

‘युक्त्यनुशासन’ में कुल चौंसठ भाष्यगर्भ श्लोक या कारिकाएँ हैं। प्रत्येक श्लोक वीर भगवान् के सर्वोदय तीर्थ का निर्देशक है। यथासंकलित श्लोकों में महावीर के शासन का मण्डन और इसके विरोधी मतों का खण्डन उपन्यस्त किया गया है। कुल चौंसठ श्लोकों में समग्र जिन-शासन को समेटना गागर में सागर समाने की उक्ति को अन्वर्थ करता है।

आचार्य समन्तभद्र के इस ग्रन्थ के मूल पद्यों में अथवा मंगलाचरण में या अन्त की पुष्पिका में कहीं भी ‘युक्त्यनुशासन’ शब्द को ग्रन्थ के नाम के रूप में संदर्भित नहीं किया गया है। ग्रन्थकार ने अपनी प्रतिज्ञा में और पुष्पिका में भी इस ग्रन्थ को स्पष्टतः ‘वीर जिन का स्तोत्र’ कहा है। द्रष्टव्य -

कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं  
त्वां वर्द्धमानं स्तुति-गोचरत्वम् ।  
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं  
विशीर्ण-दोषाऽऽशय-पाश-बन्धम् ॥१॥ (मंगलाचरण)

इति स्तुत्यः स्तुत्यैस्त्रिदश-मुनि-मुख्यैः प्रणिहितैः  
स्तुतः शक्त्या श्रेयः पदमधिगतस्त्वं जिन ! मया  
महावीरो वीरो दुरित-पर-सेनाऽभिविजये  
विधेया मे भक्तिं पथि भवत एवाऽप्रतिनिधौ ॥६४॥ (पुष्पिका)

इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का मूल नाम ‘वीर जिन स्तोत्र’ रहा होगा, बाद में इसका नाम ‘युक्त्यनुशासन’ हो गया होगा; क्योंकि ग्रन्थ की उपलब्ध प्रतियों तथा शास्त्र-भाण्डारों की सूचियों में ‘युक्त्यनुशासन’ नाम से ही इसका उल्लेख उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य विद्यानन्द ने बहुत स्पष्ट शब्दों में टीका के मंगल, मध्य और अन्त्य पद्यों में इसे ‘युक्त्यनुशासन’ नाम का स्तोत्र-ग्रन्थ उद्घोषित किया है -

‘जीयात्समन्तभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनम् । (मंगलपद्य)

स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः । (मध्यपद्य)

प्रोक्तं युक्त्यनुशासन विजयिभिः स्याद्वाद मार्गानुगैः । (अन्त्य पद्य)

ज्ञातव्य है कि इस ग्रन्थ के अड़तालीसवें पद्य में ग्रन्थकार ने ‘युक्त्यनुशासन’ शब्द का उल्लेख ग्रन्थ के नाम के संदर्भ में नहीं, अपितु विषय-विवेचन की दृष्टि से किया है। अनुमान है, परवर्ती टीकाकारों ने इसी शब्द को इस ग्रन्थ के नाम के रूप में उद्घोषित कर दिया। श्लोक इस प्रकार है -

दृष्टाऽऽगमाभ्यामविरुद्धमर्थ -  
प्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते ।

**प्रतिक्षणं स्थित्युदय - व्ययात्म -  
तत्त्वव्यवस्थं सदिहार्थरूपम् ॥48॥**

अर्थात्, दृष्ट या प्रत्यक्ष और आगम के अविरुद्ध अर्थ (साधनरूप अर्थ) से अर्थ (साध्यरूप अर्थ) का प्ररूपण ही युक्त्यनुशासन अथवा युक्ति वचन है और इस अर्थ का रूप प्रतिक्षण स्थिति (ध्रौव्य), उदय (उत्पाद) और व्यय (नाश)-रूप तत्त्व-व्यवस्था से संवलित है; क्योंकि वह सत् है।

आचार्य समन्तभद्र ने भी इस ग्रन्थ की रचना का मूल उद्देश्य वीर-स्तवन ही बताया है। इस ग्रन्थ के प्रथम श्लोक से बासठवें श्लोक तक का निबन्धन उपजाति छन्द में हुआ है और तिरसठवें-चौंसठवें श्लोक को शिखरिणी छन्द में आबद्ध किया गया है। वीर-स्तवन का सूचक तिरसठवाँ श्लोक इस प्रकार है -

**न रागात्रः स्तोत्रं भवति भव-पाश-च्छिदि मुनौ  
न चाऽन्येषु द्वेषादपगुण-कथाऽभ्यास-खलता ।  
किमु न्यायाऽन्याय-प्रकृत-गुण-दोषज्ञ-मनसां  
हितान्वेषोपायस्तव गुण-कथा-संग-गदिता ॥ 63॥**

अर्थात्, यह स्तोत्र वीर भगवान् जैसे भवपाशनाशक मुनि के प्रति निवेदित है। यह न तो उनके प्रति रागभाव से या दूसरों के प्रति द्वेष भाव से रचा गया है। यह तो भगवान के हितान्वेषण के उपाय-रूप गुण-कीर्तन के साथ-साथ उनके लिए लिखा गया है जो न्याय और अन्याय को पहचानना चाहते हैं और जो प्रकृत विषय के गुण-दोषों को जानने की इच्छा करते हैं।

विद्वानों के स्वामी, स्वामी समन्तभद्र ने अपने वीर-स्तवन में वीर-शासन की महत्ता प्रतिपादित की है। उनका विश्वास है कि वीर-शासन अभद्र को भी समन्तभद्र अथवा सर्वतोभद्र बना देता है। मूल कारिका इस प्रकार है -

**कामं द्विषन्नप्युपपत्तितचक्षुः  
समीक्ष्यतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।  
त्वयि ध्रुवं खण्डित-मान-शृङ्गो  
भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥ 62॥**

अर्थात्, वीर-शासन का वैशिष्ट्य यह है कि जो इस शासन के प्रति पूर्ण विद्वेष रखता है वह भी जब मात्सर्य का त्यागकर समदृष्टि या समाधान की दृष्टि से इसका अवलोकन या समीक्षण करता है तब उसका मानश्रृंग या अहम्भाव खण्डित हो जाता है। वह सर्वथा एकान्त-रूप मिथ्यामत के आग्रह से मुक्त हो जाता है और अभद्र से समन्त-भद्र बन जाता है।

यहां शब्दशास्त्रज्ञ आचार्य कवि ने अपने नाम में निहित द्वयर्थता का उपयोग करते हुए कहा है कि अभद्र अर्थात् मिथ्यादृष्टि व्यक्ति भी वीर-शासन के माहात्म्य या प्रभाव से सब ओर भद्र या कल्याण देखने-वाला सम्यग्दृष्टि बन जाता है।

संस्कृत के आदि जैन कवि, वादकुशल धुरन्धर आचार्य समन्तभद्र की तुलना में हम उनके परवर्ती अगड्धत्त काव्यशास्त्री पण्डितराज जगन्नाथ को रख सकते हैं। पण्डितराज ने (भामिनीविलास में) घोषणा की थी -

दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः  
 करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः ।  
 इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं  
 नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन्मृगपतिः ॥

अर्थात्, मद से मलिन कपोलवाले हाथी, दया की पात्र हथिनियाँ और असदृश स्वभाववाले मृग-जैसे पण्डित मेरे वैदुष्य के भय से दूर भाग खड़े हुए। अब मेरे जैसा पण्डित-सिंह अपने पाण्डित्य-रूप नखों की तीव्रता प्रकट करे तो किस पर ?

ठीक इसी प्रकार, अपने समय में, आचार्य समन्तभद्र ने भी अपने प्रकाण्ड वैदुष्य की दुन्दुभि भारत की सभी दिशाओं में निनादित की थी। एक अप्रतिद्वन्द्वी सिंह के समान क्रीड़ा करते हुए उन्होंने निर्भयता के साथ शास्त्रार्थ के लिए समग्र भारत का भ्रमण किया था। एक बार वह विद्या की उत्कट भूमि करहाटक नगर पहुँचे और वहाँ के तत्कालीन राजा को अपना परिचय इस प्रकार दिया -

पूर्वं पाटलिपुत्र-मध्यनगरे भेरी मया ताडिता  
 पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क-विषये काञ्चीपुरे वैदिशे ।  
 प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं  
 वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥

(श्रवणबेलगोला शिलालेख सं. 54)

स्वामी समन्तभद्र के इस आत्म-परिचय से यह स्पष्ट है कि वाद या शास्त्रार्थ-यात्रा के क्रम में उनके करहाटक पहुँचने के पूर्व उन्होंने अन्य जिन देशों और नगरों का भ्रमण किया था उनमें सर्वप्रथम पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) में अपनी वैदुष्य-दुन्दुभि बजाई थी। तत्पश्चात् उनके भ्रमण-स्थानों में मालव (मालवा), सिन्धु, ठक्क (पंजाब), कांचीपुर (कांजीवरम) और विदिशा (भिलसा) जैसे देश और जनपद प्रमुख थे। इन स्थानों में उन्होंने शास्त्रार्थ की जो विजय-वैजयन्ती फहराई थी उसके विरोध का साहस कोई नहीं दिखा सका था।

आचार्य समन्तभद्र के इस शास्त्रार्थी मिजाज और तेवर की तलखी 'युक्त्यनुशासन' में निहित पूरे वीर-स्तवन में पुंखानुपुंख-रूप से दृष्टिगत होती है। स्तोत्र के माध्यम से उन्होंने दृढतापूर्वक परमत का खण्डन और आर्हत मत का सयुक्तिक मण्डन किया है। उन्होंने पाण्डित्य-प्रदर्शन के क्रम में स्वयं अपने को दस विशेषणों के माध्यम से सिद्ध सारस्वताचार्य घोषित किया है -

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट पण्डितोऽहं  
 दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहम् ।  
 राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया -  
 माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम् ॥

स्वयम्भूस्तोत्र में आकलित इस श्लोक में स्वामी समन्तभद्र के दस विशेषण इस प्रकार हैं -  
 आचार्य, कवि, वादिराज, पण्डित, दैवज्ञ (ज्योतिषी), भिषक् (वैद्य), मान्त्रिक, तान्त्रिक, आज्ञासिद्ध और

सिद्ध-सारस्वत। अन्तिम दो विशेषणों से स्पष्ट है कि वह आज्ञासिद्ध थे - जो आदेश देते थे वही होता था और सिद्ध सारस्वत होने के कारण सरस्वती उन्हें सिद्ध थी।

अर्हद्भक्त समन्तभद्र के 'युक्त्यनुशासन' का मुख्य प्रतिपाद्य यही है कि वीर-शासन की द्वितीयता नहीं है। वीर-शासन की दृष्टि से वस्तु-तत्त्व अभेद-भेदात्मक है। स्वामी समन्तभद्र ने बौद्धों के क्षणिकात्मवाद का विस्तारपूर्वक खण्डन करते हुए उनकी दृष्टि को विभ्रान्त कहा है। प्रतीत होता है सर्वथा शून्यवादी बौद्धों के असंगत मत के खण्डन के लिए ही आचार्य समन्तभद्र ने 'युक्त्यनुशासन' की रचना की है।

आचार्यश्री का दृढ़ मत है कि सत् और असत् रूप वचन की व्यवस्था स्याद्वाद से ही सम्भव है। इस संदर्भ में उन्होंने चार्वाकों के नितान्त भूतचैतन्यवादी सिद्धान्त के प्रति हार्दिक खेद व्यक्त किया है। चार्वाकों के इस मत का कि जगत् स्वभाव से स्वच्छन्दवृत्ति है, इसलिए हिंसामूलक कार्य में कोई दोष नहीं है, प्रचण्ड खण्डन करते हुए लिखा है कि चार्वाक इस प्रकार की हिंसा का समर्थन करनेवाली सैद्धान्तिक प्रवृत्ति की घोषणा करके स्वयं विभ्रम में पड़ गये हैं और 'दीक्षासममुक्तिमान' बन गये हैं। मूल कारिका द्रष्टव्य है -

स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावा -  
दुच्चैरनाचार - पथेष्वदोषम् ।  
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमाना -  
स्वददृष्टि-बाह्या वतः विभ्रमन्ति ॥37॥

इस कारिका में 'दीक्षासममुक्तिमान' पद द्वयर्थक है। प्रथम अर्थ में, उन मान्त्रिकों को संकेतित किया गया है जो मन्त्रदीक्षा के साथ ही अपने को मुक्ति का अधिकारी मान लेते हैं और यम-नियमरहित दीक्षा को हिंसा आदि अनाचार की क्षयकारिणी समर्थ दीक्षा समझते हैं। दूसरे अर्थ में आचार्यश्री ने उन मीमांसकों को आड़े हाथों लिया है जो कर्मों के क्षय से उत्पन्न अनन्त ज्ञान आदि को मुक्ति नहीं मानते, यम-नियम आदि को दीक्षा नहीं स्वीकारते और जगत् को भूत चैतन्यवादी, स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति बताकर पंचमकार के सेवन में भी कोई दोष नहीं देखते। साथ ही, एक ओर वे वेदविहित पशुघात जैसे अनाचारी मार्ग को निर्दोष कहते हैं और दूसरी ओर वेदबाह्य ब्रह्म-हत्या आदि को सदोष बताते हैं। ऐसे वदतोव्याघाती दार्शनिकों की दूषित प्रवृत्तियों पर आचार्य समन्तभद्र ने ततोऽधिक खेद प्रकट किया है।

आचार्य समन्तभद्र का मन्तव्य है कि वीर जिन की अनेकान्त दृष्टि अद्वैतवादियों अथवा एकान्तवादियों के लिए बाधक है; क्योंकि वीर-दृष्टि में तत्त्व तो अनेकान्तात्मक है। अनेकान्त भी अशेषरूप लिये हुए अनेकान्त-रूप है। यह अनेकान्त द्रव्य और पर्याय की दृष्टि से दो प्रकार का है। यह जो विशेष और सामान्यात्मक भेद है वह वीर भगवान् के स्याद्वाद-शासन में अभेद-बुद्धि से अविशिष्ट और भेदबुद्धि से विशिष्ट होता है। इस संदर्भ में निम्नांकित कारिका द्रष्टव्य है -

विशेष-सामान्य-विषक्त-भेद -  
विधि व्यवच्छेद-विधायि-वाक्यम् ।  
अभेद-बुद्धेरविशिष्टता स्याद्  
व्यावृत्तिबुद्धेश्च विशिष्टता ते ॥60॥

कविर्मनीषी समन्तभद्र ने वीर-स्तुति की समाप्ति करते हुए कहा है कि जिन वैतण्डिकों-परपक्ष में



केवल दूषण के अन्वेषकों ने जिस कुसृति-कुमार्ग का निर्माण किया वह स्याद्वाद-शासन की दृष्टि से असमीचीन है और स्वयं इन्होंने निर्भेद (फटने) के भय से अनभिज्ञ और दर्शन मोह से आक्रान्त चिन्तक की भाँति परधाती कुल्हाड़े को अपने ही मस्तक पर मारा है। मूल श्लोक इस प्रकार है -

निशायितस्तैः परशुःपरघ्नः  
स्वमूर्ध्नि निर्भेद-भया ऽनभिज्ञैः ।  
वैतण्डिकैर्यैःकुसृतिः प्रणीता  
मुने ! भवच्छासन - दृक्प्रमूढैः ॥ 58 ॥

आचार्य समन्तभद्र के वीरस्तुति-रूप 'युक्त्यनुशासन' की अन्तर्वस्तु का निष्कर्ष इस प्रकार है -

प्रभुच्यते च प्रतिपक्षदूषी-  
जिन ! त्वदीयैःपटुसिंहनादैः ।  
एकस्य नानात्मतया ज्ञ-वृत्ते -  
स्तौ बन्धमोक्षौ स्वमतादबाह्यो ॥ 52 ॥

वीर भगवान् अनेकान्तवादी हैं। उनकी एकाऽनेकरूपता, निश्चयात्मक तथा सिंह-गर्जना की तरह-अबाध एवं युक्तिशास्त्र के अविरोद्ध आगमन वाक्यों के उपयोग द्वारा वस्तुतत्त्व के प्रति विवेक उत्पन्न-कर अतत्त्व-रूप एकान्त के आग्रह से मुक्ति प्रदान करती है। नानात्मक वस्तु का नानात्मक रूप से निश्चय या प्रत्यय ही सर्वथा एकान्त का प्रमोचन है। ऐसी स्थिति में ही अनेकान्तवादी का एकान्तवादी से कोई द्वेष नहीं हो सकता। स्वपक्ष अर्थात् अनेकान्त की स्वीकृति से प्रतिपक्ष, अर्थात् एकान्त के प्रति सर्वथा आग्रह नहीं रहता। अनन्तात्मक तत्त्व से युक्त बन्ध और मोक्ष अनेकान्त के मत से बाह्य नहीं है, वस्तुतः इन दोनों का सद्भाव उसी अनेकान्त में है, इसीलिए इन्हें 'ज्ञ-वृत्ति' कहा गया है, अर्थात् इनकी प्रवृत्ति अनेकान्तवादियों द्वारा स्वीकृत ज्ञाता आत्मा में है।

आज के एकान्तवाद के पूर्वाग्रही समाज के लिए आचार्य समन्तभद्र के इस अनेकान्तवाद अर्थात् समतावादी दृष्टिकोण को अपनाना अत्यावश्यक है; क्योंकि बिना अनेकान्तदृष्टि के न्याय-अन्याय की पहचान सम्भव नहीं है। जो सुखमय और समतामूलक जीवन की वस्तुस्थिति या मूलकारण को जानने की इच्छा करते हैं उनके लिए आचार्य समन्तभद्र का वीर-स्वरूप 'युक्त्यनुशासन' हितान्वेषण के उपाय-स्वरूप है। आज समस्त अलोकतान्त्रिक घटनाएँ श्रद्धा और गुणज्ञता के अभाव के कारण ही घटती हैं। अवश्य ही, 'युक्त्यनुशासन' एक ऐसी महिमामयी शाश्वतिक कृति है जिसमें लोकहित की अनेकान्त-दृष्टि निहित है।

आलेखगत विवेचन का उपजीव्य : श्री जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' द्वारा अनूदित एवं सम्पादित- 'युक्त्यनुशासन'; संस्करण : सन् 1951 ई० प्रकाशक: वीरसेवा मन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

पी.एन. सिन्हा कॉलोनी,  
भिखना पहाड़ी, पटना - 6

## संस्कृत परम्परा का आद्य शतक : जिनस्तुतिशतक

- डॉ. (कु.) आराधना जैन 'स्वतंत्र'

ईसा की द्वितीय शताब्दी के स्वामी समन्तभद्राचार्य का दिगम्बराचार्यों में महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य जिनसेन, वादिराजसूरि, शुभचन्द्राचार्य, वर्धमानसूरि, वादीभसिंह, वीरनन्दी आचार्य आदि ने अपने ग्रन्थों में अत्यन्त श्रद्धा से समन्तभद्राचार्य के नाम का स्मरण किया है। वे धर्मशास्त्री, तार्किक और योगी थे। धर्म, न्याय, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद, मन्त्र, तन्त्र आदि विद्याओं में तो निपुण थे ही, वाद-विवाद में भी अत्यन्त पटु थे। उन्होंने स्वान्तःसुखाय के साथ सर्वजन हिताय के लक्ष्य से अनेक ग्रन्थों का सृजन किया है। उनके द्वारा संस्कृत में विरचित उपलब्ध ग्रन्थ हैं - स्वयंभूस्तोत्र, आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, जिन स्तुतिशतक और रत्नकरण्डश्रावकाचार। इनमें प्रथम चार स्तुति ग्रन्थ भक्ति रस से परिपूर्ण हैं। स्वयंभूस्तोत्र, आप्तमीमांसा और युक्त्यनुशासन में स्तोत्र-प्रणाली से दर्शन, न्याय, धर्म, भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग समाहित है। जिनस्तुतिशतक शब्दालंकारप्रधान स्तुति काव्य है। समन्तभद्राचार्य ने काव्य-सृजन के माध्यम से स्तुतिविद्या का उद्धार, संस्कार एवं विकास किया है अतः उन्हें दिगम्बर जैन संस्कृत परम्परा के आदि कवि, आद्य स्तुतिकार एवं आद्य शतककार होने का गौरव प्राप्त है। उनसे पूर्व का जैन संस्कृत साहित्य काव्य के रूप में न होकर सूत्र के रूप में उपलब्ध है। यहाँ जिनस्तुतिशतक के कुछ बिन्दुओं पर विचार किया जा रहा है।

शतक शब्द सौ के समूह का वाचक है। शतक काव्य में सौ-एक सौ पच्चीस तक पद्य होते हैं। जिनस्तुतिशतक उच्च कोटि का स्तुति काव्य है। इसमें विविध छन्दों में निबद्ध 116 पद्य हैं। अलंकृत भाषा में कलात्मक रूप से चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। शब्दालंकारों, अर्थालंकारों और चित्रालंकारों

का प्रयोग हुआ है। यही कारण है कि इसके टीकाकार आचार्य वसुनन्दि ने टीका के प्रारम्भ में 'समस्त गुणगणोपेता' 'सर्वालंकार भूषिता', 'योगिनामपि दुष्करा', 'सद्गुणाधारा', 'सुपद्यिनी' आदि विशेषणों से युक्त कहा है<sup>1</sup>। अलंकारों की प्रधानता के कारण इसे जिन शतकालंकार तथा संक्षिप्त रूप से जिनशतक भी कहते हैं। इसका मूल नाम 'स्तुतिविद्या' है जो ग्रन्थ के प्रतिज्ञा वाक्य 'स्तुतिविद्या प्रसाधये' से स्पष्ट है<sup>2</sup>।

लोक में गुणों को बढ़ा-चढ़ा कर कहना स्तुति कहा जाता है पर समन्तभद्राचार्य इस कथन से असहमत हैं। उनका कहना है कि हे भगवन्, आपके तो अनन्त गुण हैं जिन्हें पूर्णरूप से कहा नहीं जा सकता, बढ़ा-चढ़ा कर कहने की तो बात ही अलग है। अतः लोक में प्रचलित स्तुति आप में बन ही नहीं सकती है, फिर भी आपका नाम, कीर्तन भी हमें पवित्र करता है इसलिए हम आपके गुणों का आंशिक कीर्तन करते हैं<sup>3</sup>। कवि ने स्तुतिविद्या के आरम्भ में जिनेन्द्रदेव का स्मरण कर 'आगसां जये' (पापों को जीतने के लिए) कहकर काव्य के प्रयोजन को स्पष्ट किया है।

आद्य स्तुति-शतककार सच्चे अर्हद्-भक्त थे। उनका अहंकार/मान विगलित हो गया था। अनेक स्थानों पर उन्होंने जिनेन्द्र की स्तुति करने में असमर्थता अभिव्यक्त की है जो उनकी विनम्रता की पराकाष्ठा की परिचायक है -

**वंदे चारुरुचां देव भो वियाततया विभो ।**

**त्वामजेय यजे मत्वा तमितांतं ततामित ॥28॥**

- हे विभो, आप उत्तम कान्ति, भक्ति अथवा ज्ञान से सम्पन्न जीवों के देव हो, अंतरंग और बहिरंग शत्रुओं से अजेय हो, अनन्त पदार्थों के निरूपक हो। हे पद्मप्रभ देव, मैं आपको अन्तरहित/अविनश्वर मानकर बड़ी धृष्टता से नमस्कार करता हूँ और बड़ी धृष्टता से ही आपकी पूजा कर रहा हूँ।

यहाँ आचार्य का अभिप्राय है कि इन्द्र, गणधर आदि भी जब यथोचित रीति से आपका पूजन, गुण-स्तवन नहीं कर सकते फिर आपके प्रति मेरे पूजनादि कार्य धृष्टता ही हैं।

जब भक्त का अहंकार विगलित हो जाता है तब वह अत्यन्त भक्ति-भाव से जिनेन्द्रदेव के गुण-स्तवन कर उन्हें नमस्कार करता है -

**चारुश्रीशुभदौ नौमि रुचा वृद्धौ प्रपावनौ ।**

**श्रीवृद्धौतौ शिवौ पादौ शुद्धौ तव शशिप्रभ ॥36॥**

- हे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र, आपके चरण-कमल सुन्दर समवसरणादि लक्ष्मी और निःश्रेयस आदि कल्याणदायक हैं, कान्तिमान हैं, अत्यन्त पवित्र हैं, अन्तरंग-बहिरंग लक्ष्मी को करनेवाले हैं, प्रक्षालित हैं, कल्याणरूप हैं और अत्यन्त शुद्ध हैं अतः उन्हें नमस्कार करता हूँ।

शान्तिनाथ जिनेन्द्र की आराधना/वन्दना कवि के शब्दों में देखिये -

**नागसे न इनाजेय कामोद्यन्महिमार्दिने ।**

**जगत्त्रितयनाथाय नमो जन्मप्रमाथिने ॥75॥**

रोगपातविनाशाय तमोनुन्महिमायिने ।

योगख्यातजनार्चाय श्रमोच्छिन्मंदिमासिने ॥76॥

- हे स्वामिन् ! हे अजेय ! आप अपराधरहित हैं/निष्पाप हैं, काम की बढ़ती हुई महिमा को और जन्म-मरणरूप संसार को नष्ट करनेवाले हैं तथा तीनों लोकों के स्वामी हैं। अतः हे शान्ति जिन, आपको नमस्कार है। आप रोगों तथा पापों के नाशक हैं, आपने अज्ञानान्धकार नष्ट कर दिया है। आपकी बड़ी महिमा है। आप स्वेद, खेद आदि दोषों के नाशक हैं। अत्यन्त दयालु हैं। योगियों में प्रसिद्ध गणधर आदि देव आपकी पूजा करते हैं। आपको नमस्कार करते हैं।

अर्हद्-भक्ति के माध्यम से भक्त भगवान की शरण में आता है और दुःखों से मुक्त होने तथा शाश्वत अक्षय सुख की प्राप्ति में उनको ही आधार मानकर निवेदन करता है -

धाम स्वयममेयात्मा मतयादभ्रयाश्रिया ।

स्वया जिन विधेया मे यदनन्तमविभ्रम ॥20॥

अतमः स्वनतारक्षी तमोहा वन्दनेश्वरः ।

महाश्रीमानजो नेता स्वव मामभिनन्दनः ॥21॥

- हे मोहरहित जिनेन्द्र ! आप अपनी अभिमत लक्ष्मी से ही अमेयात्मा हुए हो अतः आप मुझे भी उत्तम पुण्य/सुख से परिपूर्ण वह धाम/तेज/ज्ञान प्रदान कीजिए जिसका अन्त न हो। हे अज्ञानान्धकाररहित अभिनन्दननाथ जिनेन्द्र, जो आपको नमस्कार करते हैं आप उनकी रक्षा करते हैं। आप मोहरहित हैं, वन्दना के ईश्वर हैं, अनन्त चतुष्टय तथा अष्ट प्रातिहार्यरूप लक्ष्मी से सहित हैं, अज/जन्म से रहित हैं और नेता / मोक्षमार्गोपदेशक हैं अतः मेरी रक्षा कीजिए।

संसार के दुःखों से भयभीत एवं मोक्षमार्ग के पथिक स्वामी समन्तभद्राचार्य ने अर्हत् जिन के समक्ष आत्माभिव्यक्ति की है और भक्ति का माहात्म्य स्पष्ट किया है। भगवान की भक्ति का माहात्म्य अचिन्त्य है। यदि कोई व्यक्ति चाहे तो नाव के द्वारा समुद्रों को पार कर सकता है पर स्तुतिरूप वचनों से आपके गुणों को पार नहीं कर सकता क्योंकि आपके गुण अनन्त हैं फिर भी भक्त पुरुष क्षण-भर आपकी भक्ति करके स्वयं को पवित्र बना सकता है -

यतः कोपि गुणानुक्त्या नावाब्धीनपि पारयेत् ।

न तथापि क्षणाद् भक्त्या तवात्मानं तु पावयेत् ॥59॥

भगवान की भक्ति का ही प्रभाव है कि जो उन्हें नमन करता है वह जन्म-मरण का अन्त करके अनन्त हो जाता है। पापों का क्षय करके ज्ञानादि गुणों से सम्पन्न होता है। वर्तमान में निरोग और परलोक में स्वर्ग/मोक्ष प्राप्त करता है।

जिनेश्वर के स्तवन से शुभ भाव होते हैं फलस्वरूप पाप प्रकृतियों का क्षय होता है और पुण्य प्रकृतियाँ बढ़ती हैं जिससे वांछित प्रयोजन अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं। इसीलिए स्तुति-वन्दना को

इष्टफल का दाता, परम्परा से मोक्ष का कारण कहा जाता है। स्वामी समन्तभद्र ने जिन-स्तवन को भव-परम्परा के विच्छेद का कारण माना है और कर्मबन्धन से मुक्त होने की कामना की है -

नुन्नातीतितनून्नतिं नितनुतान्नीतिं निनूतातनु-

न्तान्तानीतितताञ्जुतानन नतान्नो नूतनैनोन्तु नो ॥109॥

भगवद्-भक्ति का ही प्रभाव है कि मानव जन्म, जरा, मरण आदि रोगों को और कर्मों को नष्ट करके अर्हन्त तथा सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है।<sup>4</sup> इसीलिये आचार्यश्री ने जिनेन्द्र के गुण-समुद्र में स्नान करने, पूजन-नमन एवं भक्ति करने हेतु मानव को प्रेरित किया है<sup>5</sup>।

भक्तिरस के सागर 'जिनशतक' में जहां भावों की मनोहरता स्पृहनीय है वहीं इसका काव्य-वैभव, शब्द-गौरव, अलंकार-सौन्दर्य भी पाठकों को आश्चर्यचकित कर देता है। इसके कलापक्ष पर दृष्टिपात करना उचित होगा।

एक ही अक्षर 'त' से निर्मित (एकाक्षर) पद्य में कवि के अगाध पाण्डित्य और शब्द-कौशल का चमत्कार दर्शनीय है -

ततोत्तिता तु तेतीतस्तोतृतोतीतितोतृतः ।

ततोऽतातिततोतोते ततता से ततोततः ॥13॥

इसी प्रकार एक ही अक्षर से निर्मित एक-एक पाद, 'एकाक्षर विरचितैकैक पादः' श्लोक का उदाहरण देखिये -

येयायायाययेयाय नानानूनाननानन ।

ममाममाममामामिताताततीतितती तितः ॥14॥

यमक अलंकार के विविध भेदों का प्रयोग भी जिनस्तुतिशतक में प्रचुरता से मिलता है। यथा -

समुद्गक यमक -

देहिनो जयिनः श्रेयः सदाऽतः सुमेते हितः ।

देहि नोजयिनः श्रेयः स दातः सुमतेहितः ॥25॥

साधिक पादाभ्यास यमक -

नतपीला सनाशोक सुमनोवर्षभासितः ।

भामण्डला सनाऽशोक सुमनोवर्षभाषितः ॥5॥

पादाभ्यास सर्वपादान्त यमक -

गायतो महिमायते गा यतो महिमाय ते ।

पद्मया स हि तायते पद्मया सहितायते ॥15॥

श्लोक यमक -

स्वयं शमयितुं नाशं विदित्वा सन्नतस्तु ते ।

चिराय भवते पीड्यमहोरुगुरवेऽ शुचे ॥11॥

स्वयं शमयितुं नाशं विदित्वा सन्नतः स्तुते ।

चिराय भवते पीड्य महोरुगुरवे शुचे ॥12॥

द्वयक्षर विरचित समुद्गक यमक -

नेतानतनुते नेनोनितान्तं नाततो नुतात् ।  
नेता न तनुते नेनो नितान्तं ना ततो नुतात् ॥52॥

निम्न पद्य में अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभ और चन्द्रमा दोनों पक्ष में अर्थ निकलने से श्लेष अलंकार है -

प्रकाशयन् खमुद्भूतस्त्वमुद्धांक कलालयः ।  
विकासयन् समुद्भूतः कुमुदं कमलाप्रियः ॥31॥

अधोलिखित पद्य में जिनेन्द्रदेव और क्षीरसागर में अभेद स्थापित किया गया है अतः रूपक अलंकार है -

काममेत्य जगत्सारं जनाः स्नात महोनिधिम् ।  
विमलात्यन्तगम्भीरं जिनामृतमहोदधिम् ॥42॥

भव्य जीव के द्वारा जिनेन्द्रदेव को नमस्कार करने पर कवि ने कल्पना की है मानो वे उनके चरण-कमलों का सौन्दर्य लेने के लिए ही नमस्कार करते हैं। यह उत्प्रेक्षा अलंकार का उदाहरण है -

आलोक्य चारु लावण्यं पदाह्लातुमिवोर्जितम् ।  
त्रिलोकी चाखिला पुण्यं मुदा दातुं ध्रुवोदितम् ॥45॥

भगवान (उपमेय) के सौन्दर्य को हृदयंगम कराने के लिए कवि ने व्यतिरेक अलंकार का प्रयोग किया है -

खलोलूकस्य गोव्रातस्तमस्ताप्यति भास्वतः ।  
कालोविकलगोघातः समयोऽप्यस्य भास्वतः ॥34॥

यहाँ भगवान को सूर्य से भी अधिक गुणवाला दर्शाया गया है। अतः व्यतिरेक अलंकार है। कवि ने विरोधाभास अलंकार के माध्यम से जिनेश्वर के वैशिष्ट्य को निरूपित किया है। यथा -

एतच्चित्रं क्षितिरेव घातकोपि प्रसादकः ।  
भूतनेत्र पतेस्यैव शीतलोपि च पावकः ॥41॥

- हे प्राणिलोचन प्रभो, आश्चर्य की बात है कि आप पृथ्वी के (पक्ष में ज्ञानावरणादि कर्मों के) घातक होकर भी पालक/रक्षक हैं और शीतल/ठण्डे (पक्ष में शीतलनाथ दशम तीर्थंकर) होकर भी पावक/अग्नि (पक्ष में पवित्र करनेवाले) हैं। यहाँ विरोधाभास से रमणीयता का आधान हुआ है।

निम्न पद्य में कवि ने परिसंख्या अलंकार के माध्यम से अपने मनोभावों को अभिव्यंजित किया है -

प्रज्ञा सा स्मरतीति या तव शिरस्तद्यन्नतं ते पदे ।  
जन्मादः सफलं परं भवभिदी यत्राश्रिते ते पदे ॥  
मांगल्यं च स यो रतस्तव मते गीः सैव या त्वा स्तुते ।  
ते ज्ञा मे प्रणता जनाः क्रमयुगे देवाधिदेवस्य ते ॥113॥

जिनस्तुतिशतक के अन्त में आचार्य समन्तभद्र ने भगवान की आराधना कर स्वयं को उसके फल का अधिकारी बतलाया है, यहां परिसंख्या के साथ काव्यलिंग अलंकार का चमत्कार परिलक्षित हो रहा है -

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वर्थ्यर्चनं चापि ते,  
हस्तावजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ।  
सुस्तुत्यां व्यसनं शिरो मतिपरं सेवेदृशी येन ते ।  
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥114॥

शब्दालंकार और अर्थालंकार के साथ यह काव्य चित्रालंकार से मण्डित है। इसमें मुरजबन्ध<sup>6</sup>, अर्थ-भ्रम<sup>7</sup>, गतप्रत्यागताध<sup>8</sup>, चतुरक्षर चक्रश्लोक<sup>9</sup>, अनन्तरपाद मुरजबन्ध<sup>10</sup>, अष्टैकाक्षरान्तरित मुरजबन्ध<sup>11</sup>, अनुलोम प्रतिलोम श्लोक<sup>12</sup>, दसवलय के चक्रश्लोक<sup>13</sup>, अनुलोम-प्रतिलोम श्लोक युगल<sup>14</sup> आदि चित्रालंकारों का प्रयोग हुआ है। यह अलंकारनिरूपण पाठकों को आश्चर्यचकित कर देता है।

जिनस्तुतिशतक भक्तियोग का प्रमुख ग्रन्थ है। इसके स्तुति, पूजा, वन्दना, आराधना, शरणागति, भजन, स्मरण, नाम-कीर्तन आदि अंग हैं जो आत्मविकास में और मन की एकाग्रता में सहायक हैं। भक्तिपरक इस ग्रन्थ में जैन दर्शन के सिद्धान्तों की विवेचना रोचक और कलात्मक शैली में हुई है। जहाँ इसका कला-पक्ष सबल है वहीं भावपक्ष भी मनोहारी है। काव्य से निसृत रस-सारिता में अवगाहनकर सहृदय अलौकिक आनन्द की मस्ती में डूब जाता है। संस्कृत शतक परम्परा का आद्य शतक 'जिनस्तुति शतक' परवर्ती शतकों के लिए आधार स्तम्भ है।

1. स्तुतिविद्या, समन्तभद्राचार्य, वीरसेवा मन्दिर, सरसावा (सहारनपुर), 30 जुलाई 1950, प्रस्तावना, पृष्ठ-5।
2. वही, प्रस्तावना, पृष्ठ-1।
3. स्वयंभूस्तोत्र, समन्तभद्राचार्य, 86-87।
4. स्तुतिविद्या, समन्तभद्राचार्य, 22, 24, 70।
5. वही 2, 50, 52।
6. वही, 2, 6-9, 21, 30-35, 39-42, 45, 58-63, 65, 67-71, 73-78, 80, 82, 99, 101-105।
7. वही, 3, 4, 18-21, 27, 36, 43, 44, 56, 90, 92।
8. वही, 10, 83, 88, 95।
9. वही, 22, 26, 53, 54।
10. वही, 48, 64, 66, 100।
11. वही, 50, 89, 91।
12. वही, 57, 96, 98।
13. वही, 110-115।
14. वही, 86।

मील रोड,  
गंजबासोदा, विदिशा, म.प्र.-464221

## आचार्य समंतभद्र की अनुपम कृति रत्नकरंड श्रावकाचार

- श्रीमती प्रभावती जैन



भारतीय आचार्य-परम्परा में अतिविशिष्ट अद्वितीय प्रतिभाशाली दार्शनिक, संपूर्णता को दिग्दर्शित करनेवाले अनुपम कवित्व-शक्तिसम्पन्न, आध्यात्मिक अलौकिकता से पूर्ण गौरवशाली आचार्यों में शिरोमणि स्वामी समंतभद्र के विषय में जितना भी कहा जाये, कम है।

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् अनेक उत्कृष्ट मनीषी भारतभूमि पर हुए हैं, परन्तु उनमें आगामी तीर्थंकर होने का सौभाग्य शलाका पुरुषों में राजा श्रेणिक के साथ स्वामी समंतभद्र को ही प्राप्त हो सका है।

अनेक उत्तरवर्ती दिगम्बर एवं श्वेताम्बर आचार्यों ने, जैन-अजैन मनीषियों ने, प्रख्यात एवं प्रामाणिक विद्वानों ने आपकी अलौकिक साहित्य-मर्मज्ञता, दार्शनिक सूक्ष्मता, अद्भुत तार्किकता, भक्ति एवं दर्शन की अद्भुत समन्वयता जैसे गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

समंतभद्राचार्य ने अनेकांतवाद एवं स्याद्वाद के माध्यम से जिन-शासन-दर्शन की सर्वतोन्मुखी उन्नतिकर भारतीय दर्शन के चहुँमुखी विकास में विलक्षण योगदान दिया है। आचार्य समंतभद्र आचार्य कुंदकुंद के सदृश दिगम्बर जैन साहित्य के प्राण-प्रतिष्ठापक हैं। उनकी उत्कृष्ट एवं अलौकिक रचनाओं में भव्य जीवों के कल्याण की भावना निहित है। समंतभद्राचार्य के उपलब्ध ग्रंथों में श्रावकाचार एक प्रमुख ग्रंथ है। उसे उपासकाध्ययन भी कहते हैं। आचार्य समंतभद्र ने इतने गहन विषय को केवल 150 कारिकाओं



में सूत्रबद्ध किया है, इससे उनकी विशाल श्रुत-समुद्र को मंथन करनेवाली श्रुत-संपत्ति का भी परिचय होता है। श्री वादिराज सूरि ने इसे अक्षय सुखावह और प्रभाचंद्र ने अखिल सागरमार्ग को प्रकाशित करनेवाला निर्मल सूर्य कहा है। यह जैन साहित्य का सुप्रसिद्ध ग्रंथ है जो प्रत्येक छोटे-बड़े शास्त्र भंडार में पाया जाता है। इसका हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी आदि भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

इस ग्रंथ में श्रावकों को लक्ष्य करके उस समीचीन धर्म का उपदेश दिया है जो कर्मों का नाशक एवं संसार के दुखों से निकालकर उत्तम सुखों को धारण करनेवाला है। यह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्ररूप है और वही आराध्य है। दर्शन आदि की जो स्थिति इसके प्रतिकूल है, अर्थात् जो सम्यक्-रूप न होकर मिथ्या-रूप है वही अधर्म है और संसार-परिभ्रमण का कारण है। पं. खूबचंद जी जैन शास्त्री द्वारा रचित 'रत्नत्रय-चंद्रिका' के विभिन्न भागों में रत्नकरंड श्रावकाचार की भाषा-टीका विस्तृतरूप से की गई है। अन्य विद्वानों ने भी विभिन्न भाषाओं में टीकाएं की हैं।

इस ग्रंथ में धर्म के सम्यग्दर्शनादि तीनों अंगों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। उसे सात परिच्छेदों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक परिच्छेद का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है -

### मंगलाचरण

नमः श्रीवर्धमानाय, निर्धूत कलिलात्मने ।

सालोकानां त्रिलोकानां, यद्विद्या दर्पणायते ॥1॥

- कर्म-मल को धोकर अपनी आत्मा को शुद्ध करनेवाले श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार करता हूँ, जिनका केवलज्ञान अलोकाकाश सहित तीनों लोकों को दर्पण के समान झलकाता है।

अर्थात् अनंत चतुष्टय-रूप अंतरंग लक्ष्मी एवं समवशरण आदि रूप बहिरंग लक्ष्मी से विभूषित भगवान महावीर को एवं परमातिशय प्राप्त केवलज्ञानी चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार करता हूँ। वे अपने एवं दूसरों के कर्मों के नाशक हैं। दर्पण के सदृश दर्शक के नेत्रों से दिखनेवाले उसके मुख आदिक के प्रकाशक हैं। ठीक उसी प्रकार जिनका केवलज्ञान आलोकाकाश सहित त्रिकालवर्ती अनंतानंत पर्यायों सहित षड्द्रव्यों के समूहरूप लोक को क्रम बिना-एक साथ जानते हैं।

### उद्देश्य या धर्म का लक्षण

देशयामि समीचीनं, धर्म कर्मनिवर्हणम् ।

संसारदुःखतः सत्वान्, यो धरत्युत्तमे सुखे ॥2॥

- कर्मों के नाशक, अबंधित, समीचीन एवं रक्षक, उपकारी उस धर्म का कथन कहूँगा जो संसारी प्राणी को संसार के शारीरिक एवं मानसिक आदि दुखों से छुटकारा दिलाकर मोक्ष-सुख को प्राप्त कराता है।

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्म धर्मेश्वरा विदुः ।

यदीय-प्रत्यनीकानि, भवन्ति भवपद्धतिः ॥3॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्र-इन्हीं का नाम धर्म है। यही मोक्षमार्ग है। इनसे विपरीत

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र - ये तीनों संसार-दुःख के कारण हैं। ये कभी भी सुख के हेतु नहीं हो सकते हैं।

### सम्यग्दर्शन का लक्षण

श्रद्धानां, परमार्थानामाप्तागम तपो-भूताम् ।

त्रिमूढा पोढमष्टांगं, सम्यग्दर्शनमस्म्यम् ॥4॥

- सच्चे आप्त, आगम एवं मुनि (देव, शास्त्र, गुरु) का तीन मूढतारहित, आठ अंगसहित, आठ मद-रहित जैसा का तैसा श्रद्धान सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) कहलाता है।

### सत्यार्थ देव (आप्त) का लक्षण

आप्तेनोत्सन्नदोषेण, सर्वज्ञेनागमेशिना ।

भवितव्यं नियोगेन, नान्यथाह्याप्तता भवेत् ॥5॥

- जो वीतराग (18 दोषरहित), सर्वज्ञ एवं हितोपदेशी हैं वे ही सच्चे देव हैं। किन्तु जो इन गुणों से रहित हैं वे आप्त नहीं हो सकते अर्थात् सच्चे देव नहीं हो सकते हैं।

1. **प्रथम परिच्छेद** में सत्यार्थ, आप्त, आगम और तपोमृत के त्रिमूढतारहित तथा आठ मदहीन और अष्ट अंगसहित श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बतलाया है। आप्त, आगम, तपस्वी के लक्षण, लोक, देव, पाखंडी, मूढताओं का स्वरूप, ज्ञानादि अष्ट कर्मों के नाम और निःशंकादि अष्ट अंगों के महत्वपूर्ण लक्षण एवं इन अंगों के साधक प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम दिये हैं। धर्म का लक्षण, सम्यग्दर्शन, देव-शास्त्र-गुरु का लक्षण, मूढता, मद के नाम एवं सम्यग्दर्शन की महिमा का विस्तार के साथ वर्णन किया है। सम्यग्दर्शन के लक्षण, विषय, गुण, दोष, निःश्रेयस तथा अभ्युदयिक फल का वर्णन किया है।

इनमें निम्नलिखित विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं -

- (1) सम्यग्दर्शन युक्त चांडाल भी पूज्य है।
- (2) ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन मुख्य है। वह मोक्ष-मार्ग में खेवटिया के सदृश है, उसके बिना ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलोदय उसी तरह नहीं हो पाते जिस तरह बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति आदि नहीं हो पाते।
- (3) निर्मोही सम्यग्दृष्टि गृहस्थ मोक्षमार्गी है, परन्तु मोही (मिथ्यादृष्टि) मुनि मोक्षमार्गी नहीं। अतएव मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है।

2. **द्वितीय परिच्छेद** में सम्यग्ज्ञान का लक्षण देकर उसके विषयभूत प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग का सामान्य स्वरूप दिया है।

3. **तृतीय परिच्छेद** में सम्यग्चारित्र के धारण करने की पात्रता और आवश्यकता का वर्णन करते हुए उसे हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रहरूप पाप-प्रणालियों से विरतिरूप बतलाया है। सकल चारित्र मुनियों के होता है और विकल चारित्र परिग्रहसहित गृहस्थों के होता है। गृहस्थों के योग्य विकल

चारित्र के बारह भेद किये हैं जिनमें पांच महाव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत शामिल हैं। इसके बाद हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रहरूपी पांच पापों के स्थूलरूप से त्याग को अणुव्रत बतलाया है। अहिंसादि पांचों अणुव्रतों का स्वरूप उसके पांच-पांच अतिचारोंसहित दिया है। साथ ही यह प्रतिपादित किया है - मद्य-मांस और मधु के त्यागसहित ये पांच अणुव्रत गृहस्थों के अष्ट मूलगुण कहलाते हैं।

4. चौथे परिच्छेद में दिग्ब्रत, अनर्थदंडव्रत और भोगोपभोग-परिमाण व्रत नाम से तीन गुणव्रतों का उनके पांच-पांच अतिचारोंसहित वर्णन है। पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या-ऐसे अनर्थदंड के पांच भेदों का वर्णन है, भोगोपभोग की व्याख्या है और उसमें कुछ विशेष त्याग का विधान, व्रत का लक्षण और यम-नियम का स्वरूप भी दिया है।

5. पांचवे परिच्छेद में देशावकाशिक, सामायिक, प्रौषध उपवास और वैयावृत्य नाम से चार शिक्षाव्रतों का पांच-पांच अतिचारों सहित वर्णन है। सामायिक और प्रौषधोपवास के कथन में कुछ विशेष कर्तव्यों का भी उल्लेख किया है और सामायिक के समय गृहस्थ के चेलोपसृष्ट मुनि की उपमा दी है। वैयावृत्य में संयमियों को दान देने और देवाधिदेव की पूजा करने का भी विधान किया है और उस दान के आहार, औषध, उपकरण, आवास- ऐसे चार भेद किये हैं।

6. छठे परिच्छेद में अनुष्ठानावस्था के निवेशसहित सल्लेखना-समाधिमरण का स्वरूप और उसकी आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए संक्षेप में समाधिमरण की विधि का उल्लेख किया है और सल्लेखना के पांच अतिचार भी दिये हैं। अंत में निःश्रेयस सुख के स्वरूप का कुछ दिग्दर्शन भी कराया है।

7. सातवें परिच्छेद में श्रावकों के उन ग्यारह पदों का स्वरूप दिया है जिन्हें प्रतिमा भी कहते हैं। उनमें उत्तरोत्तर प्रतिमाओं के गुण पूर्व की प्रतिमाओं के संपूर्ण गुणों को लिये हुए होते हैं और इस तरह क्रमशः विवृद्ध होकर तिष्ठते हैं। इन प्रतिमाओं में प्रत्येक प्रतिमाधारी का स्वरूप बताया है। करने योग्य व न करने योग्य आचरण की व्याख्या भी मोक्ष-महल में जाने के लिए ये क्रमशः सीढ़ियां हैं। प्रतिमाओं में वृद्धि करते हुए उत्तरोत्तर ग्यारहवीं प्रतिमा में पहुंच जाता है।

रत्नकरंड के निम्न पद में उपसंहाररूप में आत्मा को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रत्नों की पिटारी बना लेने की प्रेरणा दी है और उसका फल तीनों लोकों में सब अर्थों की सिद्धि बताया है-

येन स्वयं वीतकलंकविद्या-दृष्टिक्रिया रत्नकरंडभावम् ।

नीतस्तमायाति पतीच्छयेव, सर्वार्थसिद्धिस्त्रिबुविष्टपेषु ॥149॥

रत्नकरंड श्रावकाचार स्वामी समंतभद्र की मौलिक एवं प्रौढ़ साहित्य की प्रामाणिक कृति है। श्रावकचार धार्मिक दृष्टि से लिखा गया है और उसके द्वारा सामान्य लोगों को धर्म का ज्ञान कराना इष्ट है। अतः श्रावकाचार श्रद्धाप्रधान श्रावकों के धर्म का प्रतिपादक ग्रंथ है। सारांशतः इस ग्रंथ में श्रावकों के अनुष्ठान धर्म का जो वर्णन दिया है वह बड़ा ही हृदयग्राही, समीचीन, सुखमूलक और प्रामाणिक है। इसलिये प्रत्येक गृहस्थ को चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, इस ग्रंथ का अध्ययन-मनन करना चाहिए। इसके

अनुकूल आचरण निःसंदेह कल्याण का कर्ता है और आत्मा को उन्नत तथा स्वाधीन बनाने में समर्थ है। ग्रंथ की भाषा बड़ी ही मधुर, प्रौढ़ और अर्थ-गौरव को लिये हुये है। निःसंदेह यह ग्रंथ धर्म-रत्नों का छोटा-सा पिटारा है और इसीलिये इसका नाम रत्नकरंड बहुत ही सार्थक जान पड़ता है। इससे पहले का इस विषय का कोई भी स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, चारित्रसार, उपासकाध्ययन, अमितगति श्रावकाचार, वसुनंदि श्रावकाचार, सागार धर्मामृत और लाटी संहिता आदि प्रसिद्ध ग्रंथ इसके बाद ही बने हुए हैं। छोटा होने पर भी इसमें श्रावकों के लिए कल्याणकारी धर्म-रत्नों का संग्रह किया है, वे अवश्य ही बहुमूल्य हैं।

समंतभद्र स्वामी का मत था कि निर्मोही (सम्यग्दृष्टि) गृहस्थ मोक्षमार्गी है, परंतु मोही मुनि मोक्षमार्गी नहीं है और इसीलिये मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है। उनका साधु जीवन, उनकी इस युक्ति का प्रतिबिंब था।

द्वारा- प्रो. एल. सी. जैन  
554, सर्राफा, दीक्षा ज्वैलर्स के ऊपर  
जबलपुर-482002



## नैवासतो जन्म सतो ...

सतः कथंचित्त दसत्वशक्तिः खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम् ।  
सर्वस्वभावच्युतमप्रमाणं स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् ॥23॥

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तम् ।  
नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ॥24॥

विधिनिषेधश्च कथंचिदिष्टौ विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था ।  
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं मतिप्रवेकः स्तुवतोऽस्तु नाथ ॥25॥

-स्वयंभूस्तोत्र

- जो सत् है उसके कथंचित् असत्वशक्ति भी होती है। जैसे - पुष्प वृक्षों पर तो अस्तित्व लिये हुए प्रसिद्ध है परन्तु आकाश पर उसका अस्तित्व नहीं है। आकाश की अपेक्षा वह असत्-रूप है। यदि वस्तुतत्त्व को सर्वथा स्वभावच्युत माना जाय तो वह अप्रमाण ठहरता है। इसी से आपकी दृष्टि से सर्वजीवादि तत्व कथंचित् सत्-असतरूप अनेकात्मक हैं। इस मत से भिन्न वह वचन-विरुद्ध है।

- यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो वह उदय-अस्त को प्राप्त नहीं हो सकती और न उसमें क्रिया-कारक की ही योजना बन सकती है। जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता और जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता। दीपक भी बुझने पर सर्वथा नाश को प्राप्त नहीं होता किन्तु उस समय अन्धकाररूप पुद्गल-पर्याय को धारण किये हुए अपना अस्तित्व रखता है।

- विधि और निषेध दोनों कथंचित् इष्ट हैं। विवक्षा से उनमें मुख्य-गौण की विवक्षा होती है। इस प्रकार हे सुमति जिन ! आपका जो यह तत्वप्रणयन है इस तत्वप्रणयन के द्वारा आपकी स्तुति करनेवाले मुझे स्तोता की मति का उत्कर्ष होवे।

अनु. - पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

## ‘रत्नकरण्ड श्रावकाचार’ की पारिभाषिक शब्दावलि : प्रयोग और प्रयोजन

- विद्यावारिधि डॉ. महेन्द्रसागर प्रचंडिया

मद्रास प्रान्त में कांचीवरम के सन्निकट फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुर नामक ग्राम है। वहाँ सम्भ्रान्त क्षत्रिय परिवार के प्रमुख काकुस्थ वर्मा के यहाँ संवत् 125 में पुत्र-रत्न का जन्म हुआ। बालक का नाम रखा गया शान्तिवर्मा, नामानुरूप बालक शान्त स्वभाव का था।

सता-असाता कर्मों को भोगते हुए आपने अन्तेवासी के रूप में प्रारम्भिक शिक्षार्जन किया। आपने अनेक तीर्थाटन किए तथा साधु-संतों का शुभ सान्निध्य प्राप्त किया। अन्ततोगत्वा आप दिगम्बर मुनिचर्या में दीक्षित हुए और नाम रखा गया - स्वामी समन्तभद्र। दीक्षोपरान्त आपने प्राकृत, संस्कृत, कन्नड़ तथा तमिल भाषाओं का गम्भीर अध्ययन किया और अनेक उपयोगी ग्रंथों का प्रणयन कर स्व-पर कल्याण को प्राप्त हुए। रत्नकरण्ड श्रावकाचार, आप्त मीमांसा, युक्त्यनुशासन, जिनशतक और स्वयंभूस्तोत्र जैसे ग्रंथराज अधिक उल्लेखनीय हैं। जैन जगत में श्रावकचर्या को संयत और सुगठित रखने के लिए रत्नकरण्ड श्रावकाचार का अवदान अत्यधिक मूल्यवान है।

करण्ड शब्द का अर्थ है - मन्जूषा। श्रावक अर्थात् गृहस्थचर्या के आचार-रत्नों की मन्जूषा है - रत्नकरण्ड श्रावकाचार। गृहस्थचर्या के लिए रत्नकरण्ड श्रावकाचार वस्तुतः एक नैतिक संविधान है। इसके अनुसार आचरण करने से जीवन का विकास सुनिश्चित है। आज का जीवन अनेकमुखी प्रदूषणों और विकारों से सम्पृक्त है फलस्वरूप आज का आदमी आदमी के रक्त का प्यासा हो गया है। इस भयंकर आधि

और व्याधि से उबरने के लिए रत्नकरण्ड श्रावकाचार की प्रासंगिकता आज भी असंदिग्ध है।

रत्नकरण्ड की शब्दावलि आज के पाठी के लिए वस्तुतः पारिभाषिक हो गयी है। जन-सामान्य के लिए उस शब्दावलि का प्रयोग और प्रयोजन वस्तुतः विशेष अध्ययन और अनुशीलन की अपेक्षा रखता है। इसी अभाव को ध्यान में रखकर 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार की पारिभाषिक शब्दावलि : प्रयोग और प्रयोजन' विषयक संक्षिप्त अध्ययन करना यहाँ हमारा मूलाभिप्रेत है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में प्रयुक्त सात पारिभाषिक शब्दों का विश्लेषण अकारादि क्रम से निम्नांकित रूप में किया जा सकता है, यथा -

- |             |               |               |
|-------------|---------------|---------------|
| 1- अतिचार,  | 2- अनुयोग,    | 3- देव,       |
| 4- प्रतिमा, | 5- वैयावृत्य, | 6- संल्लेखना, |
| 7- सामायिक। |               |               |

## अतिचार

अतिचार शब्द के अनेक अर्थ किए गए हैं - अतिक्रमण, आगे बढ़ जाना, एक राशि का भोग काल समाप्त हुए बिना दूसरे में चला जाना, मर्यादा का उल्लंघन, बहुत खेल-तमाशे देखने का दोष आदि अर्थ-अभिप्राय उल्लेखनीय हैं।

जैनागम में अतिचार शब्द से जो अर्थ लिया गया है उसमें निजता मुखर हो उठी है। किसी करणे योग्य कार्य के न करने पर और त्यागने योग्य पदार्थ के त्याग न करने पर जो पाप होता है उसे वस्तुतः अतिचार कहा गया है<sup>2</sup>।

आचार्य समन्तभद्र ने श्रावकाचार में विविध व्रतों के संदर्भ में अतिचार शब्द का प्रयोग किया है। यथा -

- |   |                   |
|---|-------------------|
| 1 — अणुव्रत में पाँच-पाँच प्रकार का अतिचार    | — पच्चीस प्रकार,  |
| 2 — गुणव्रत में पाँच-पाँच प्रकार का अतिचार    | — पन्द्रह प्रकार, |
| 3 — शिक्षाव्रत में पाँच-पाँच प्रकार का अतिचार | — बीस प्रकार,     |
| 4 — संल्लेखना में पाँच प्रकार का अतिचार       | — पाँच प्रकार।    |

इस प्रकार उक्त व्रतों के संदर्भ में पैसठ प्रकार के अतिचारों की चर्चा उल्लिखित है। इन सभी अतिचारों की क्रमिक स्थिति पर निम्न प्रकार विचार किया जा सकता है। अहिंसाणुव्रत के अतिचार निम्नांकित हैं<sup>3</sup>, यथा -

- (1) छेदन - अर्थात् नाक, कान आदि अंगों का काटना।
- (2) बंधन - अर्थात् रस्सी या जंजीर से किसी को बाँधना।
- (3) पीड़न - पीटना, घायल करना।
- (4) अतिभारोहण - शक्ति और सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना।

(5) आहारवारणा - आहार-पानी आदि न देना या समय पर न देना।

सत्याणुव्रत के अतिचारों का विवरण निम्न प्रकार है<sup>4</sup> -

- (1) झूठा उपदेश देना।
- (2) स्त्री-पुरुषों की गोपनीयता को भंग करना।
- (3) शारीरिक चेष्टा द्वारा अभिप्राय जानकर ईर्ष्या से दूसरे की बात को प्रकट करना - उजागर करना।
- (4) झूठे लेख लिखना।
- (5) किसी की धरोहर का हरण करना।

अचौर्यव्रत के अतिचार निम्नांकित हैं<sup>5</sup> -

- (1) चोरी की प्रेरणा देना।
- (2) चोरी का माल लेना।
- (3) कर आदि को छिपाना, भुगतान न करना अथवा कम करना।
- (4) खाद्य-अखाद्य पदार्थों में मिलावट करना।
- (5) मापने-तौलने में कम करना अथवा आधिक्य करना।

ब्रह्मचर्य व्रत के अतिचार उल्लेख निम्नांकित द्रष्टव्य हैं<sup>6</sup> -

- (1) दूसरे का विवाह कराना।
- (2) काम-सेवन के लिए निश्चित अंगों से भिन्न अंगों द्वारा काम-सेवन करना।
- (3) शारीरिक तथा वाचनिक प्रवृत्ति करना।
- (4) अपनी पत्नी के भोगने में भी अत्यन्त आसक्ति रखना।
- (5) व्यभिचारिणी स्त्रियों से सम्बन्ध रखना।

अपरिग्रहव्रत के अतिचार निम्नांकित हैं<sup>7</sup> -

- (1) अतिवाहन।
- (2) अतिसंग्रह।
- (3) अतिविस्मय।
- (4) अतिलोभ।
- (5) अतिभारवहन (अधिक लोभ के अभिप्राय से)।

अणुव्रतों की भाँति गुणव्रतों में भी पाँच-पाँच अतिचारों की चर्चा की गयी है जो निम्नांकित हैं -

दिग्ब्रत व्रत के अतिचार निम्नलिखित हैं<sup>8</sup> -

- (1) अज्ञान अथवा प्रमाद से ऊर्ध्व दिशा की मर्यादा का उल्लंघन करना।
- (2) अज्ञान अथवा प्रमाद से अधोदिशा की मर्यादा का उल्लंघन करना।



- (3) अज्ञान अथवा प्रमाद से दिशा और विदिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन करना।
- (4) अज्ञान अथवा प्रमाद से किसी दिशा की सीमा घटा-बढ़ा लेना।
- (5) पूर्व में की हुई मर्यादा को अज्ञान अथवा प्रमाद से भूल जाना।

अनर्थदण्ड व्रत के अतिचारों की चर्चा निम्नांकित है<sup>9</sup>। दण्ड शब्द भी पारिभाषिक है। इस शब्द का अर्थ है मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृत्ति।

- (1) कन्दर्प-अर्थात् राग से हास्ययुक्त गन्दे शब्द बोलना।
- (2) कौत्कुच्य-अर्थात् हास्य और अश्लील वचनसहित कायिक कुचेष्टा करना।
- (3) मौखर्य - आवश्यकता से अधिक मुखर होना अर्थात् अधिक बोलना।
- (4) अतिप्रसाधन-भोगोपभोग की चीजों को आवश्यकता से अधिक रखना।
- (5) असमीक्ष्याधिकरण अर्थात् बिना विचारे काम करना।

भोगोपभोग परिमाणव्रत के अतिचार निम्न प्रकार हैं<sup>10</sup> -

- (1) विषयरूप विष में आसक्त होना।
- (2) भोगे हुए विषयों को स्मरण करना।
- (3) इस भव के अर्थात् वर्तमान के विषयों को भोगने में अत्यन्त लालसा रखना।
- (4) पर-भव अर्थात् भविष्य के विषयभोगों की तृष्णा रखना।
- (5) विषय के न भोगने पर भी विषय-भोगने जैसा अनुभव करना।

इस अतिचार में भोग और उपभोग दो शब्दों का प्रयोग हुआ है। जो एक बार भोगने में आए उसे भोग और जिसे बार-बार भोगने की प्रवृत्ति हो उसे उपभोग कहा गया है<sup>11</sup>।

अणुव्रतों और गुणव्रतों की भाँति जीवन-साधना के लिए शिक्षाव्रतों का भी विधान किया गया है। इन व्रतों में भी अतिचारों की चर्चा उल्लिखित है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम देशावकाशिक व्रत के अतिचार निम्नांकित हैं<sup>12</sup>-

- (1) प्रेषण - स्वयं मर्यादा के भीतर रहते हुए किसी दूसरे को मर्यादा के बाहर अपने कार्य के लिए भेजना।
- (2) शब्द- स्वयं मर्यादा के भीतर रहकर बाहर काम करनेवालों को खाँसकर या अन्य किसी शब्द के द्वारा सचेत करना।
- (3) आनयन - मर्यादा के बाहर से किसी वस्तु को मँगाना।
- (4) रूपाभिव्यक्ति - मर्यादा के बाहर काम करनेवालों को अपना रूप दिखाकर सावधान करना।
- (5) पुद्गलक्षेप - कंकड़-पत्थर फैककर बाहर के लोगों को इशारा करना।

सामायिक के अतिचार भी पाँच प्रकार के कहे गए हैं<sup>13</sup>-

- (1) वाग्दुःप्रणिधान - अर्थात् शास्त्रविरुद्ध अशुद्ध पाठ करना।

- (2) काय दुःप्रणिधान - अर्थात् शरीर को चंचल करना।
- (3) मानस दुःपाणिधान - अर्थात् मन से दुष्ट परिणाम करना, मन को स्थिर न करना।
- (4) अनादर - सामायिक की विधि का आदर नहीं करना।
- (5) अस्मरण - सामायिक पाठ या मंत्र वगैरह भूल जाना।

प्रोषधोपवास के अतिचार निम्नांकित हैं<sup>14</sup> -

- (1) अदृष्टमृष्ट ग्रहण - भूख से पीड़ित होकर बिना देखी-शोधी हुई वस्तुओं को उठाना।
- (2) अदृष्टमृष्ट विसर्ग-बिना देखी-शोधी हुई भूमि पर मल-मूत्र आदि करना।
- (3) अदृष्टमृष्टास्तरण - बिना देखी-शोधी हुई भूमि पर आसन आदि बिछाना।
- (4) अनादर - आवश्यक कामों में आदर न होना<sup>15</sup>
- (5) अस्मरण - विधि को भूल जाना।

वैवावृत्य के अतिचार निम्नरूप से उल्लिखित हैं<sup>15</sup>-

- (1) हरित पिधान - देने योग्य आहार को हरे पत्तों से ढकना।
- (2) हरित निधान - देने योग्य आहार को हरे पत्तों पर परोसना।
- (3) अनादर - आदर से नहीं देना।
- (4) अस्मरण - दान की विधि आदि भूल जाना।
- (5) मत्सरत्व - दूसरे दातारों की प्रशंसा को न सहना अथवा ईर्ष्या-भाव से आहार देना।

सल्लेखना के संदर्भ में भी पाँच प्रकार के अतिचारों की चर्चा की गयी है<sup>16</sup>। सल्लेखना मृत्यु का उत्तम आयोजन है। इसके सम्पादन हेतु पाँच अतिचारों का सर्वथा त्याग आवश्यक है -

- (1) जीविताशंसा - जीने की अभिलाषा करना।
- (2) मरणाशंसा - अधिक तकलीफ होने से मरने की इच्छा करना।
- (3) भय - परलोक का भय।
- (4) मित्रस्मृति - परिचित मित्रों का स्मरण करना।
- (5) निदान - परलोक में उत्तम भोग आदि की इच्छा करना।

जहाँ व्रत का प्रसंग होता है वहाँ अज्ञान और प्रमाद के वशीभूत होने से आचरण में शिथिलता की भी सम्भावना उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति में अतिचार का उदय और उन्नयन होता है। आज मानवीयचर्या प्रायः व्रत-विहीन हो गयी है, उसमें अतिचारों का आधिक्य है। फलस्वरूप जन-जीवन दुःख-द्वन्द्वों से सम्पृक्त है।

### अनुयोग

आचार्य-परम्परा से आगत मूल सिद्धान्त को आगम कहते हैं<sup>17</sup>। आगम वस्तुतः चार भागों में विभक्त हैं, जिन्हें अनुयोग कहते हैं। यथा -

- |                  |                   |
|------------------|-------------------|
| (1) प्रथमानुयोग, | (2) करणानुयोग,    |
| (3) चरणानुयोग,   | (4) द्रव्यानुयोग। |

**प्रथमानुयोग** - प्रथमानुयोग पौराणिक प्रसंगों का वर्णन करता है<sup>18</sup>।

आचार्य समन्तभद्र ने प्रथमानुयोग को पारिभाषित करते हुए कहा कि जिसमें महापुरुषों के जीवन-चरित्र लिखे हों उसे प्रथमानुयोग कहते हैं। इस अनुयोग में पुराणों, तज्जन्य अनेक चरित्र, कथाकोश सम्मिलित किए गए हैं<sup>19</sup>।

**करणानुयोग** - करण एक मौलिक शब्द है जिसका अभिप्राय है गणित-सूत्र अथवा आत्मा के परिणाम। जिस अनुयोग में इसी लोक-अलोक का वर्णन हो, उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी आदि कालों का कथन हो, मनुष्य आदि गतियों तथा गुणस्थान आदि का वर्णन हो वह वस्तुतः करणानुयोग कहलाता है।<sup>20</sup> इस अनुयोग में त्रिलोकसार, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति तथा गोम्मटसार आदि ग्रंथराज उल्लेखनीय हैं।

**चरणानुयोग** - उपासकाध्ययन आदि में श्रावक का धर्म और मूलाचार, भगवती आराधना आदि में यति का धर्म जहाँ मुख्यता से कहा गया है उसे वस्तुतः चरणानुयोग कहा जाता है<sup>21</sup>। इसी बात को विवेच्य कृति में इस प्रकार परिभाषित किया गया है - वह अनुयोग जिसमें गृहस्थ और मुनियों के चारित्र का वर्णन किया गया हो वह चरणानुयोग कहलाता है<sup>22</sup>। इस दृष्टि से मूलाचार, अनगर-धर्माभूत, धर्मसंग्रह-श्रावकाचार आदि उल्लेखनीय ग्रंथ हैं।

**द्रव्यानुयोग** - तत्त्वार्थ सिद्धान्त, शुद्ध-अशुद्ध जीव आदि षट् द्रव्यों का वर्णन जिस अनुयोग में किया गया है उस अनुयोग को द्रव्यानुयोग कहते हैं<sup>23</sup>।

इसी अभिप्रेत को विवेच्य कृति में इस प्रकार कहा है कि जिस अनुयोग में जीव आदि सप्त तत्त्वों, पुण्य और पाप तथा षट् द्रव्यों का वर्णन किया गया है उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं<sup>24</sup>।

आज जीवन में स्वाध्याय के संस्कार ही लुप्त हो रहे हैं, यत्किंचित् पढ़ा भी जा रहा है, वह जागतिक जीवन को प्रोत्साहन देता है और जीव-कल्याण के लिए कहीं कोई वातावरण ही सुलभ नहीं हो पा रहा है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में गृहस्थकल्याणार्थ अनेक उपयोगी संदर्भों की चर्चा की गयी है। पूर्व पुरुषों के प्रभावक आख्यान, लोक-बोध, जीव-शुद्धि तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए पृथक्-पृथक् रूप से जहाँ शास्त्रों, सूक्तों और विविध सामग्री की चर्चा की गयी है, उनके स्वाध्याय किए बिना भला व्यक्ति के सुधार-उद्धार की सम्भावना कैसे की जा सकती है? इस प्रकार आज अनुयोग की पारिभाषिकता और लाक्षणिकता का अभ्यास किए बिना भला कोई कैसे लाभान्वित हो सकता है?

## देव

सामान्यतः स्वर्ग में विचरण करनेवाला दिव्य शक्तिसम्पन्न अमर प्राणी देव कहलाता है। इसी को देवता, परमात्मा, इन्द्र भी कहते हैं<sup>25</sup>। जैनागम में देव शब्द का प्रयोग वीतरागी भगवान् अर्थात् अर्हत-सिद्ध के लिए होता है<sup>26</sup>। उल्लेखनीय बात यह है कि यहाँ वीतराग-देव किसी की माँग को नहीं पूरते।

साधक को प्रत्येक उपलब्धि के लिए स्वयं पुरुषार्थ करना होता है। देव-दर्शन से मात्र अपने में प्रच्छन्न आत्म-शक्ति को जगाया जाता है। आचार्य समन्तभद्र भी देव अर्थात् आप्त को वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी स्वीकारते हैं<sup>27</sup>।

## प्रतिमा

मिट्टी, पाषाण अथवा धातु की मूर्ति वस्तुतः प्रतिमा कहलाती है<sup>28</sup>। प्रतिमा शब्द जैनागम में श्रेणी एवं अवस्था के लिए भी प्रयुक्त हुआ है<sup>29</sup>। देशसंयम का धात करनेवाली कषायों के क्षयोपशम की वृद्धि के वश से श्रावक या गृहस्थ के ग्यारह संयम-स्थान होते हैं। इन्हीं के आधार पर श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ कही गयी हैं। यथा -

1. दर्शन प्रतिमा, 2. व्रत प्रतिमा, 3. सामायिक प्रतिमा, 4. प्रोषध प्रतिमा, 5. सचित्त-त्याग प्रतिमा, 6. रात्रि-भोजन-त्याग प्रतिमा, 7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा, 8. आरम्भ-त्याग प्रतिमा, 9. परिग्रह-त्याग प्रतिमा, 10. अनुमति-त्याग प्रतिमा, 11. उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा।

आगम में प्रथम छह प्रतिमाएँ जघन्य मानी जाती हैं, सात-आठ और नवमी प्रतिमाएँ मध्यम कहलाती हैं। दसवीं-ग्यारहवीं प्रतिमाएँ उत्तम मानी जाती हैं।<sup>30</sup> अब यहाँ प्रत्येक प्रतिमा पर संक्षेप में चर्चा करेंगे। यथा -

1. **दर्शन प्रतिमा** - दर्शन प्रतिमाधारी संसार और शारीरिक भोगों से विरक्त पंच परमेष्ठियों का भक्त होता है तथा सम्यक् दर्शन से विशुद्ध रहता है<sup>31</sup>। विवेच्य कृति में जो श्रावक सम्यग्दर्शन से शुद्ध हो, शरीर एवं विषय-भोगों से उदासीन हो, पंच परमेष्ठी का श्रद्धानी हो तथा अष्टमूल गुणों का धारक हो वस्तुतः वही दर्शन प्रतिमा का धारक कहलाता है<sup>32</sup>।
2. **व्रत प्रतिमा** - शल्य और अतिचाररहित पंचाणुव्रतों, गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का दृढ़तापूर्वक पालक व्रत प्रतिमा का धारक होता है<sup>33</sup>। विवेच्य कृति में इसी आशय अर्थात् द्वादश शीलव्रतों के पालक को व्रत प्रतिमाधारी कहा है<sup>34</sup>।
3. **सामायिक प्रतिमा** - कायोत्सर्ग में स्थित श्रावक अनुकूल-प्रतिकूल स्थिति में समभाव से स्व-पर को देखता है। वह सिद्ध-स्वरूप को ध्यान करता है<sup>35</sup>। विवेच्य कृति में सामायिक प्रतिमाधारी कायोत्सर्ग स्थिति में मन, वचन, काय को शुद्ध रखकर प्रातः, मध्याह्न और सांयकाल तीन बार सामायिक-ध्यान करता है<sup>36</sup>।
4. **प्रोषध प्रतिमा** - अष्टमी और चतुर्दशी (के चारों) पर्वों में शुभ ध्यान में तत्पर एक बार सविधि आहार-ग्रहण करता है वह श्रावक प्रोषध प्रतिमाधारी होता है<sup>37</sup>। विवेच्य कृतिकार ने प्रोषध प्रतिमाधारी को एकांशन तथा रसों का त्याग करने का निर्देश दिया है<sup>38</sup>।
5. **सचित्त-त्याग प्रतिमा** - हरित, छाल-पत्र, प्रवाल, फल, बीज और अप्रासुक जल जो परित्याग करता है वह सचित्त त्याग-प्रतिमा का धारी कहलाता है<sup>39</sup>। इसी भाव की अनुमोदना करते हुए विवेच्य कृतिकार ने स्पष्ट किया कि इस प्रतिमा का धारी कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, कन्द, पुष्प और बीजों का सर्वथा त्यागी होता है<sup>40</sup>।

6. **रात्रि-भोजन-त्याग प्रतिमा** - जो साधक चारों प्रकार का आहार एवं जल रात्रि में त्यागता है साथ ही मन, वचन, काय तथा कृत, कारित और अनुमोदना से मैथुन-दिवा का त्याग करता है<sup>41</sup>। विवेच्य कृति में इस प्रतिमा का धारी दयालु श्रावक रात्रि में चारों प्रकार के भोजन का त्याग कर देता है<sup>42</sup>।
7. **ब्रह्मचर्य प्रतिमा** - इस प्रतिमा का धारी श्रावक मन, वचन, काय; कृत, कारित और अनुमोदना-गुणित नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य का त्याग करता है<sup>43</sup>। विवेच्य कृति में उल्लिखित है कि जो श्रावक शारीरिक अशुचिता का अनुभवकर काम-सेवन का सर्वथा त्याग कर देता है वह इस प्रतिमा का धारी होता है<sup>44</sup>।
8. **आरम्भ-त्याग-प्रतिमा** - आरम्भ शब्द का अर्थ है प्राणियों को दुःख पहुँचानेवाली प्रवृत्ति<sup>45</sup>। इस प्रतिमा का धारी श्रावक गृहकार्य में होनेवाली हिंसा का सर्वदा के लिए त्याग कर देता है<sup>46</sup>। विवेच्यकृति में भी इस प्रतिमा का धारी जीव हिंसा के कारणाभूत नौकरी, खेती तथा व्यापार आदि आरम्भों का त्याग कर देता है<sup>47</sup>।
9. **परिग्रह-त्याग प्रतिमा** - जो आवश्यक वस्त्रादि को रखकर शेष सभी परिग्रह त्यागता है वही परिग्रह-त्याग प्रतिमा को धारण कर सकता है<sup>48</sup>। विवेच्य कृति में श्रावक द्वारा दश परिग्रहों अर्थात्, क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयन, आसन, कुप्य और भाण्ड में ममता छोड़कर सन्तोष-वृत्ति धारण करने का निर्देश दिया गया है। ऐसा वैराग्यमुखी श्रावक ही परिग्रह-त्याग प्रतिमा धारण करता है<sup>49</sup>।
10. **अनुमति-त्याग प्रतिमा** - आरम्भ, परिग्रह तथा लोकधर्मी कार्यों में कोई अनुमति अर्थात् अनुमोदना नहीं करना अनुमति-त्याग प्रतिमाधारी श्रावक का लक्षण होता है<sup>50</sup>। विवेच्य कृति में स्पष्ट किया है कि जिस सदगृहस्थ की आरम्भ, परिग्रह तथा इस लोक सम्बन्धी कार्यों में अनुमति नहीं है वह समान बुद्धिवाला सत्पुरुष निश्चय से अनुमति प्रतिमा का धारी मानने योग्य है<sup>51</sup>।
11. **उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा** - जो साधक श्रावक मन, वचन, काय; कृत, कारित, अनुमोदन से नव कोटि शुद्ध आहार को गृहस्थ के घर पर एकबार ग्रहण करता है वह उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमाधारी श्रावक होता है<sup>52</sup>।

इस प्रकार श्रावक - गृहस्थ को साधना-सम्पन्न करने के लिए इन प्रतिमा के धारण करने का संकल्प-अभ्यास आवश्यक है।

### वैयावृत्त्य

मुनि, उपाध्याय तथा आचार्य पर व्याधि, परीषह, मिथ्यात्व आदि का उपद्रव होने पर उसका प्रासुक औषधि, आहार-पान, आश्रय, चौकी, तख्ता और संथारा आदि धर्मोपकरणों से प्रतीकार करना तथा सम्यक्त्व मार्ग में दृढ़ करना, औषधि आदि के अभाव में अपने हाथ से खकार, नाक-मल आदि अभ्यन्तर मल को साफ करना और उनके अनुकूल वातावरण बना देना वस्तुतः वैयावृत्त्य है<sup>53</sup>।

विवेच्य कृतिकार ने वैयावृत्य का विश्लेषण दो प्रकार से किया है। एक तो शिक्षावृत्त के अन्तर्गत केवल धर्मबुद्धि से गृह-त्यागी मुनिराज के लिए आहार, कमण्डलु, पीछी, शास्त्र आदि का दान देना वैयावृत्य शिक्षावृत्त है<sup>54</sup>। दूसरा अर्थ व्यक्त करते हुए कहा गया कि व्रती पुरुषों के गुणों का आदर करते हुए उनके कष्टों को दूर करना वस्तुतः वैयावृत्य है<sup>55</sup>।

### सल्लेखना

सत् और लेखना इन दोनों के संयोग से सल्लेखना शब्द का गठन हुआ है। सत् से तात्पर्य है सम्यक् और लेखना का अर्थ है कृश करना। सम्यक् प्रकार से कृश करना। जैन दृष्टि से काय और कषाय को कर्मबंध का मूल कारण माना है, इसीलिए उसे कृश करना ही सल्लेखना है। बाहरी शरीर का और भीतरी कषायों का क्रमशः उनके कारणों को घटाते हुए सम्यक् प्रकार से क्षीण करना वस्तुतः सल्लेखना है<sup>56</sup>।

विवेच्य कृतिकार सल्लेखना की चर्चा करते हुए कहते हैं कि उपायरहित, उपसर्ग, दुष्काल, बुढ़ापा तथा रोग वगैरह के आने पर रत्नत्रयस्वरूप, धर्म का उत्तम रीति से पालन करने के लिए शरीर छोड़ना सल्लेखना है<sup>57</sup>।

### सामायिक

समय शब्द के अर्थ हैं आत्मा की ओर मुड़ना और समय का भाव है - सामायिक<sup>58</sup>। इसी बात को प्रकारान्तर से इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि सम शब्द का अर्थ है श्रेय और अयन का अर्थ है आचरण अर्थात् श्रेष्ठ आचरण है सामायिक।

सामायिक की चर्चा करते हुए विवेच्य कृतिकार की मान्यता रही है कि मन, वचन, काय तथा कृत, कारित और अनुमोदन से मर्यादा के भीतर और बाहर भी किसी निश्चित समय तक पाँचों पापों का त्याग करना सामायिक है<sup>59</sup>।

एक सौ पचास श्लोकों की इस कृति में अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग - उपयोग हुआ है किन्तु यहाँ उदाहरणार्थ मात्र सात शब्दों की पारिभाषिकता पर संक्षेप में चर्चा की गई है ताकि सुधी और रुचिवंत अनुसंधित्सु इस दिशा में प्रवृत्त हो सकें। इससे आज धार्मिक परम्परा से अनभिज्ञ व्यक्तियों के लिए इस दिशा में प्रवेश करने में यथोचित सहायता प्राप्त होगी। इत्यलम्।

1 (अ) रत्नकरण्ड श्रावकाचार, पं. पन्नलाल जी साहित्याचार्य।

(ब) बृहत् हिन्दी कोश, कालिकाप्रसाद, पृष्ठ 35।

2. चारित्रसार, 137, 2, चामुण्डराय।

3. छेदनबन्धनपीडनमतिभारोपणं व्यतीचारा :।

आहार वारणापिच स्थूलवधाद् व्युपरतेः पञ्च ॥54॥ -रत्नकरण्ड श्रावकाचार, आचार्य समन्तभद्र।

4. परिवादरहोऽभ्याख्या, पैशून्यं कूटलेखकरणं च।

न्यासापहारितापि च, व्यतिक्रमा पंच सत्यस्य ॥56॥ -वही

5. चौप्रयोग चौरार्थादान विलोप सदृश सन्मिश्राः।

हीनाधिक विनिमानं पंचास्तेये व्यतीपाताः ॥58॥ -वही

6. अन्य विवाहाकरणा-नंगक्रीडावित्त्व विपुलतुषः ।  
इत्वरिका गमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीपाताः ॥60॥ -वही
7. अतिवाहनाति संग्रह - विस्मयलोभातिभारवहनानि ।  
परिमित परिग्रहस्य च, विक्षेपाः पंच लक्ष्यन्ते ॥62॥ -वही
8. ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यखतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम् ।  
विस्मरणं दिखिरतेरत्याशाः पञ्च मन्यन्ते ॥73॥ -वही
9. कन्दर्पं कौत्कुच्यं, मौखर्यमति प्रसाधनं पञ्च ।  
असमीक्ष्यचाधिकरणं, व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्धिरतेः ॥81॥ -वही
10. विषयविषतोऽनुप्रेक्षानुस्मृति रतिलौल्यमति तृषानुभवौ ।  
भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥90॥ -वही
11. भुक्त्वा परिहातव्यो, भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः ।  
उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पाञ्चेन्द्रियो विषयः ॥83॥ -वही
12. प्रेषण शब्दानयनं, रूपाभिव्यक्ति पुद्गलक्षेपौ ।  
देशावकाशिकस्य, व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च ॥96॥ -वही
13. वाक्कायमानसानां, दुःप्रणिधानान्यनादरस्मरणे ।  
सामयिकस्यातिगमा, व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥105॥ -वही
14. ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे ।  
यत्प्रोषधोपवास व्यतिलंघन पंचकं तदिदम् ॥110॥ -वही
15. हरितपिधाननिधाने, हानादरास्मरणमत्सरत्वानि ।  
वैयानृत्यस्यैते, व्यतिक्रमाः पंच कथ्यन्ते ॥121॥ -वही
16. जीवितमरणाशंसे, भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः ।  
सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समुद्दिष्टाः ॥129॥ -वही
17. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, प्रथम भाग, पृष्ठ. 225, क्षु. जिनेन्द्र वर्णा ।
18. पढमाणियोगो पंच सहस्स पदेहि पुराणं वण्णेदि । 2.3, ग्रंथराज धवला
19. प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमति पुण्यम् ।  
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥43॥ -रत्न.श्रा.
20. (अ) लोकालोक विभित्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च ।  
आदर्शमिव तथामतिरिवैति करणानुयोगं च ॥44॥ वही  
(ब) त्रिलोकसारे जिनान्तरे लोकविभागादिग्रन्थव्याख्यानं करणानुयोगो विज्ञेयः ॥42॥ -द्रव्य संग्रह, आचार्य नेमीचन्द्र, टीका ।
21. उपासकाध्ययनादौ श्रावक धर्मसु, आचाराधनौ यति धर्मं च यत्र मुख्यत्वेन कथयति स करणानुयोगो भण्यते ॥42॥  
- द्रव्य संग्रह, आचार्य नेमीचन्द्र ।
22. ग्रहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षागम् ।  
चरणानुयोगसमयं, सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥45॥ -रत्न. श्रा.
23. प्राभृत तत्त्वार्थ सिद्धान्तादौ यत्र शुद्धाशुद्धजीवादि षडद्रव्यादीनां मुख्यवृत्त्या व्याख्यानं क्रियते स द्रव्यानुयोगो भण्यते ॥42॥ -द्रव्य संग्रह, नेमीचन्द्राचार्य, टीका ।

24. जीवाजीव सुतत्त्वे, पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च ।  
द्रव्यानुरयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥46॥ -रत्न. श्रा.
25. बृहत् हिन्दी कोश, कालिका प्रसाद, पृष्ठ 645 ।
26. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृष्ठ 443, क्षु. जिनेन्द्र वर्णी ।
27. आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।  
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥5॥ -रत्न. श्रा.
28. वृहत हिन्दी कोश, कालिका प्रसाद, पृष्ठ 78 ।
29. अर्हत् सूत्र, पृष्ठ 41, ब्र. कुमारी कौशल ।
30. चारित्रसार, 40.3 ।
31. चारित्रसार, 3.5 ।
32. सम्यग्दर्शनशुद्धः, संसारशरीरभोगनिर्विण्णः ।  
पञ्चगुरुचरण शरणो, दर्शनिकस्तत्त्व पथगृहयः ॥137॥ -रत्न. श्रा.
33. वसुनन्दी श्रावकाचार, 207 ।
34. निरतिक्रमणमणुव्रत पञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि ।  
धारयते निःशल्को, योऽसौ व्रतिनामतो-व्रतिकः ॥138॥ -रत्न. श्रा.
35. वसुनन्दी श्रावकाचार, 276- 278 ।
36. चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुः प्रणामः स्थितो यथाजातः ।  
सामयिको द्विनिषद्य-स्त्रियोगशुद्ध स्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥139॥ -रत्न. श्रा.
37. अर्हत् सूत्र, पृष्ठ 42, ब्र. कौशल ।
38. पर्वदिनेषुचतुर्ध्वपि, मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य ।  
प्रोषधनियम विधायी, प्रणधिपरः प्रोषधानशनः ॥140॥ -रत्न. श्रा.
39. वसुनन्दी श्रावकाचार, 295 ।
40. मूलफलशाक शाखा-करीर-कन्द-प्रसून-बीजानि ।  
नामानि योऽस्ति सौऽयं, सच्चित्तविरतो दयामूर्तिः ॥141॥ -रत्न. श्रा.
41. वसुनन्दी श्रावकाचार, 296 ।
42. अन्नं पानं खाद्यं, लेह्यं नाश्नाति यो विभावयाम् ।  
स च रात्रिभुक्तिविरतः, सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः ॥142॥ -रत्न. श्रा.
43. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 403 ।
44. मलबीजं मलयोनिं, गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सम् ।  
पश्यन्गमनंगाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥143॥ -रत्न. श्रा.
45. प्रारम्भः प्राणिपीडा हेतु व्यापारः, सर्वार्थसिद्धि, 333.9 ।
46. वसुनन्दी श्रावकाचार, 298 ।
47. सेवाकृषि वाणिज्य प्रमुखादारम्भतो व्युपारमति ।  
प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥144॥ -रत्न. श्रा.
48. वसुनन्दि श्रावकाचार, 299 ।
49. बाह्येषु दशसु वस्तुषु, ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वव्रतः ।  
स्वस्थः संतोषपरः, परिचित्त परिग्रहाद्विरतः ॥145॥ -रत्न. श्रा.



50. सागार धर्माभूत, 7.31 से 34 ।
51. अनुमतिरारम्भे वा, परिग्रहे ऐहिकेषु कर्मसु वा ।  
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥146॥ -रत्न. श्रा.
52. वसुनन्दी श्रावकाचार, 303-311 ।
53. राजवार्तिक, 15-16 ।
54. दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये ।  
अनपेक्षितोपचारो-पक्रियमगृहाय विभवेन ॥111॥ -रत्न. श्रा.
55. व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् ।  
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥112॥ -वही
56. चारित्रसार, 22, चामुण्डराय ।
57. उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसिरुजायां च निःप्रतीकारे ।  
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥122॥ -रत्न. श्रा.
58. सर्वार्थ सिद्धि, 7, 21 ।
59. आसमयमुक्तिमुक्तं, पञ्चाधानामशेषभावेन ।  
सर्वत्र च सामायिकाः, सामयिकं नाम शंसन्ति ॥97॥ -रत्न. श्रा.

मंगल कलश  
394, सर्वोदय नगर,  
अलीगढ़-202001

## रत्नकरण्ड श्रावकाचार का प्रतिपाद्य

- डॉ. राजीव प्रचंडिया

अभिव्यक्ति व्यक्ति की सहज प्रवृत्ति है। जब वह शब्दों में कैद होती है तब वह साहित्य का रूप धारण करती है। विश्व साहित्य में भारतीय साहित्य और भारतीय साहित्य में जैन साहित्य की विशेषता अप्रतिम है। जैन साहित्य प्रधानतया निवृत्तिपरक होने से उसमें जो कथ्य-तथ्य गर्भित है वह है सांसारिक एषणाओं तथा भोगवासनाओं में लिप्त जीवन की निस्सारता। जीवन का सार है अनन्त चतुष्टय की सम्प्राप्ति। अनन्त चतुष्टय ही आत्मा का यथार्थ स्वरूप है। आत्मा की यथार्थता भौतिकता की अपेक्षा अध्यात्म-साधना से सुनिश्चित है। अध्यात्म-साधना से कर्म-कुल शीर्ण होते हैं। ये कर्म-कुल आत्म-यथार्थता के बाधक तत्व हैं। यथार्थता का एक बार प्रकटीकरण या साक्षात्कार हो जाने पर अनादिकालीन जन्म-मरण का चक्र टूट या छूट जाता है। फिर जो है वह शाश्वतता से सम्पृक्त होता है।

जैन साहित्य का मूल स्रोत है जिनेन्द्रवाणी का संकलितरूप आगम जो चार अनुयोगों - प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग में विभक्त है। द्वितीय शताब्दी के दिगम्बर जैनाचार्य समन्तभद्र द्वारा प्रणीत 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' चरणानुयोग से अनुप्राणित जैन साहित्य या आगम का प्रतिनिधित्व करता है। श्रावकाचार से संदर्भित अनेक कृतियाँ दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत हैं। यथा-आचार्य योगेन्द्रदेव - (ई.श.6) कृत नवकार श्रावकाचार, आचार्य अमितगति (ई. 993-1021) - कृत श्रावकाचार, आचार्य वसुनन्दि (ई. 1068-1118) - कृत श्रावकाचार, आचार्य सकलकीर्ति (ई. 1406-1442) - कृत प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, पंडित आशाधर (ई. 1173-1243) - कृत सागार धर्मामृत तथा आचार्य पद्मनन्दि (ई. 1280-1330) - कृत श्रावकाचार। इन सभी कृतियों में श्रावकों के आचार पक्ष पर प्रमुखरूप से

प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत निबन्ध 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार का प्रतिपाद्य' विषय से संदर्भित है अतः इसी पर संक्षेप में चर्चा करना हमारा मूल अभिप्रेत है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में जीवन की सार्थकता को सिद्ध करनेवाले प्रमुख तत्त्वों का काव्यात्मकता के साथ सविस्तार प्रतिपादन हुआ है। ये तत्त्व हैं - धर्म, व्रत, प्रतिमाएँ तथा सल्लेखना। इन तत्त्वों का सम्यक् श्रद्धान-विश्वास तथा अवबोध तदनु रूप आचरण संसारस्थ प्राणी में व्याप्त मोह-मिथ्यात्व को दूरकर निर्मल सम्यक्त्व की ओर ले जाते हुए अनन्त अविनाशी सुख का अवगाहन कराता है। काव्यपरम्परा का निर्वाह करते हुए आचार्य समन्तभद्र मंगलाचरण से विवेच्य कृति का प्रणयन करते हैं जिसमें उन्होंने अनुष्टुप् छन्द में अपने आराध्यदेव की गुणानुवाद के साथ वन्दना की है। यथा -

**नमः श्रीवर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने ।  
सालोकानां त्रिलोकानां, यद्विद्या दर्पणायते ॥१॥**

तदुपरान्त धर्म के लक्षण एवं स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

संसार की समस्त धार्मिक मान्यताओं में 'धर्म' का स्वरूप अपने-अपने ढंग से अभिव्यक्त है। जैन मान्यतानुसार 'इष्ट स्थाने धत्ते इति धर्मः' अर्थात् जो इष्ट स्थान (स्वर्ग-मोक्ष) में धारण कराता है, धरता है, उसे धर्म कहते हैं। इसी कथ्य को आचार्य समन्तभद्र विवेच्य कृति में इस प्रकार से अभिव्यक्त करते हैं कि जो प्राणियों को संसार के दुःख से उठाकर उत्तम सुख (वीतराग सुख) में धारण करता है, रखता है, वह धर्म है<sup>2</sup>। वास्तव में धर्म संसार से रक्षा तथा स्वभाव में धारण करने से कर्मों का विनाशक तथा समीचीन है। आचार्य आगे कहते हैं कि धर्म 'रत्नत्रय का समन्वित रूप है'। इस रत्नत्रय अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र के सोपान से भव्य जीव कर्मरूपी संसार-सागर से तिरकर मोक्ष का वरण करते हैं। यथा -

**सददृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।  
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥३॥**

आचार्य प्रवर ने विवेच्य कृति में रत्नत्रय पर विस्तारपूर्वक चर्चा की है। सम्पूर्ण ग्रन्थ इसी पर आधृत है। सर्वप्रथम उन्होंने सम्यग्दर्शन जो धर्म का मूल है, के स्वरूप-माहात्म्य को अड़तीस श्लोकों में प्रतिपादित किया है<sup>3</sup>। सम्यग्दर्शन के स्वरूप को स्थिर करते हुए जैनागम में निर्दिष्ट है कि स्वात्मप्रत्यक्षपूर्वक स्व-पर-भेद का या कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक सम्यग्दर्शन है। यह स्वतः अथवा किसी के उपदेश से या जाति-स्मरण, जिनबिम्ब-दर्शन आदि के निमित्त से काल पाकर भव्य जीवों को उत्पन्न होता है<sup>4</sup>।

आचार्य समन्तभद्र सम्यग्दर्शन के लक्षण को व्यवहार नय की अपेक्षा से सरल शब्दावलि में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का तीन मूढतारहित, आठ अंगसहित तथा मदरहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यथा -

**श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभ्रताम् ।  
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥**

इसमें तीन विशेषताएँ-त्रिमूढा, पोढ़ं, अष्टांगं तथा अस्मयं जुड़ी हुई हैं जिनका विवेचन विवेच्य कृति में परिलक्षित है। सच्चादेव वीतरागी, सर्वज्ञ तथा हितोपदेशी होता है। सच्चा शास्त्र वीतराग सर्वज्ञ देव के उपदेशानुसार प्रणीत शास्त्र है तथा सांसारिक विषय-विकारों से उदासीन आरम्भ-परिग्रहरहित और ज्ञान-ध्यान-तप में लवलीन साधक सच्चा गुरु कहलाता है<sup>5</sup>। इसी संदर्भ में तीन मूढताओं-लोक मूढता, देव-मूढता, तथा पाषण्डि-मूढता (गुरु-मूढता) का भी उल्लेख हुआ है<sup>6</sup>। सम्यग्दर्शन के आठ अंगों - निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना<sup>7</sup>, - के विवेचनोपरान्त इन अंगों की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि निःशंकित आदि अंगों से रहित सम्यग्दर्शन संसार-परम्परा को नष्ट-विनष्ट करने के लिए समर्थ नहीं है क्योंकि न्यूनाक्षरोंवाला मंत्र विष-वेदना को दूर करने में सक्षम नहीं होता है। यथा -

नांगहीनमलं छेतुं दर्शनं जन्मसन्ततिम् ।  
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ॥21॥

सम्यग्दर्शन की तीसरी विशेषता है -अस्मयं अर्थात् मदरहित। 'मद' शब्द का अर्थ है अहंकार। नियमसार में मद शब्द मदन या काम परिणाम के अर्थ में प्रयुक्त है<sup>8</sup>। यह मद आठ प्रकार का होता है - विज्ञान, ऐश्वर्य, आज्ञा, कुल, बल, तप, रूप तथा जाति<sup>9</sup>। विवेच्य कृति में मद के लक्षणों में आठ भेद इस प्रकार से निरूपित हैं - ज्ञानमद, पूजामद, कुलमद, जातिमद, बलमद, ऋद्धिमद, तपमद तथा शरीरमद<sup>10</sup>। आचार्य ने मद दूर करने के उपदेश में बताया कि यदि पापों का नाश हो गया तो पुण्य का बन्ध होने से उत्तम कुल आदि सब सम्पत्तियाँ स्वयमेव मिल जाती हैं और यदि पापों का आम्रव है अर्थात् यदि पाप आते रहते हैं तो उत्तम कुल आदि की प्राप्ति पर भी उनसे कोई लाभ नहीं हो सकता। अतः कुल आदि आठों मद नहीं करना चाहिए। यथा-

यदि पापनिरोधोऽन्य-सम्पदा किं प्रयोजनम् ।  
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्य-सम्पदा किं प्रयोजनम् ॥ 27 ॥

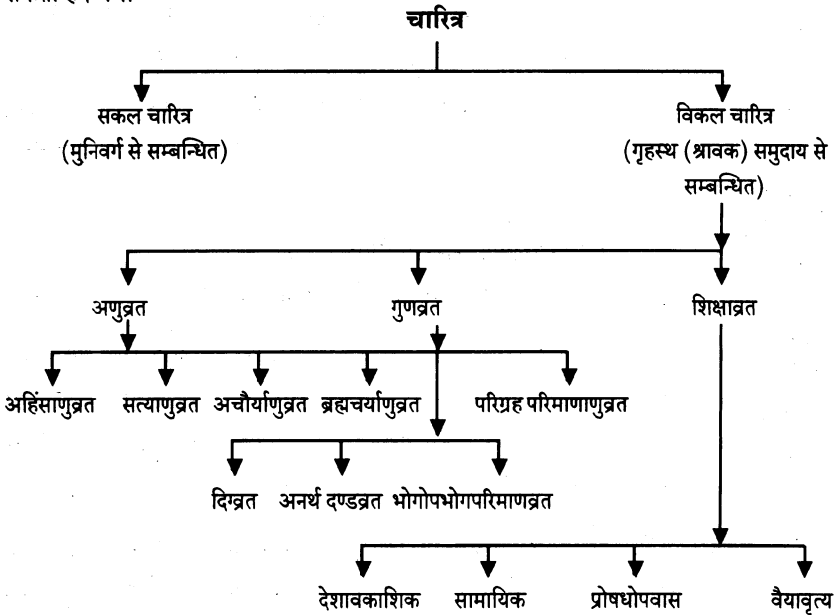
सम्यग्दर्शन के स्वरूप को जान लेने पर उसका माहात्म्य अपने आप प्रकट हो जाता है। सम्यग्दर्शन के माहात्म्य की भी चर्चा विवेच्य कृति में द्रष्टव्य है। यहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान-चारित्र की अपेक्षा श्रेष्ठतम रूप में प्रतिष्ठित है। मोक्ष-मार्ग में यही मुख्य है, बिना इसके इन दोनों का भी होना असम्भव है। अतः सर्वकाल-क्षेत्रों में सम्यग्दर्शन कल्याणकारी एवं मंगलकारी तत्त्व है<sup>11</sup>।

रत्नत्रय का द्वितीय अवयव है सम्यक् ज्ञान। विवेच्य कृति में आर्या छन्द में इसका लक्षण प्रतिपादित हुआ है जिसमें कहा गया है कि जो पदार्थ जैसा है उसको उसी रूप में जानना सम्यग्ज्ञान है। पदार्थ को हीनाधिक, सन्देहसहित और विपरीत जानना मिथ्याज्ञान है जो संसार का कारण है। यथा -

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् ।  
निःसन्देहं वेद यदा हुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥42॥

सम्यग्ज्ञान के संदर्भ में ही चार अनुयोगों - प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग-के स्वरूप को भी स्थिर किया गया है<sup>12</sup>।

रत्नत्रय का तृतीय अवयव है सम्यक् चारित्र। जो ज्ञानी पुरुष संसार के कारणों को दूर करने के लिए उद्यत है उसके कर्मों के ग्रहण करने में निमित्तभूत क्रिया के त्याग को सम्यक् चारित्र कहते हैं<sup>13</sup>। यही बात विवेच्य कृति में इस प्रकार से अभिव्यक्त है कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह नामक पंच पापों का त्याग-परित्याग सम्यक् चारित्र है। यह मिथ्यादर्शी तथा मिथ्याज्ञानी की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी के ही होता है<sup>14</sup>। सकल और विकल नाम से सम्यक् चारित्र के दो भेद निरूपित हैं जिसमें सकल चारित्र मुनियों तथा विकल चारित्र गृहस्थों के लिए निर्दिष्ट है। यहाँ सकल का अभिप्राय है उपर्युक्त पंच पापों का सर्वथा त्याग अर्थात् महाव्रतों का अंगीकार तथा विकल से तात्पर्य है इन पंच पापों का एक-देश त्याग अर्थात् अणुव्रतों का अनुपालन। आचार्य समन्तभद्र ने विकल चारित्र के तीन भेद बताए हैं - (1) अणुव्रत (2) गुणव्रत (3) शिक्षाव्रत। इनमें भी क्रमशः पाँच (अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रह परिमाणानुव्रत), तीन (दिग्ब्रत, अनर्थदण्डव्रत, भोगोपभोग परिमाणव्रत), तथा चार (देशावकाशिक, सामायिक प्रोषधोपवास, वैयावृत्य) प्रभेदों का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार विकलचारित्र कुल बारह भेदों में परिगणित है<sup>15</sup>। जिसे निम्न चार्ट के माध्यम से सरलता के साथ समझा जा सकता है। यथा -



इस प्रकार चारित्र में व्रत की प्रधानता असन्दिग्ध है। व्रत का अर्थ है यावज्जीवन हिंसादि पापों की एकदेश (आंशिक) या सर्वदेश (पूर्णरूप) निवृत्ति<sup>16</sup>। विवेच्य कृति में व्रत के विषय में कहा गया है कि जो वस्तु अनिष्ट और अनुपसेव्य है उसका भी त्याग करना हितकर होता है क्योंकि योग्य विषयों का भाव

(विचार) पूर्वक त्यागना व्रत कहलाता है यथा -

**यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ।**

**अभिसन्धिकृताविरति - विषयाद्योग्याद्व्रतं भवति ॥86॥**

व्रत के दो रूप मिलते हैं- एक महाव्रत तथा दूसरा अणुव्रत । जब व्रत मन, वचन व काय तथा कृत, कारित, अनुमोदनापूर्वक सर्वदेशीय रूप में किया जाता है तो वह महाव्रत की संज्ञा पाता है । यह व्रत का पहला रूप है । महाव्रत मुनियों के लिए ही निर्दिष्ट हैं<sup>17</sup> । व्रत का दूसरा रूप है अणुव्रत । जिसके लक्षण भेद-अभेदों के साथ विस्तार-पूर्वक विवेच्यकृति में द्रष्टव्य हैं । अणुव्रतों के प्रसंग में अतिचारों का भी वर्णन सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त है<sup>18</sup> । विवेच्यकृति में अतिचार निम्नांकित शब्दों में प्रयुक्त है यथा-अतिचार, व्यतिचार, व्यतिक्रम, व्यतीपात, अत्याश, अत्याश व्यतीति, अतिगम तथा व्यतिलंघन । अहिंसाणुव्रत के अतिचारों के प्रसंग में व्यतिचार, सत्याणुव्रत के अतिचारों में व्यतिक्रम, अचौर्याणुव्रत के अतिचारों के वर्णन में व्यतीपात ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचारों में व्यतिचार, परिग्रह परिमाणानुव्रत के अतिचारों में अतिचार तथा दिग्ब्रत के अतिचारों के वर्णन में अत्याश, अनर्थदण्डव्रत के अतिचारों के संदर्भ में व्यतीति, भोगोपभोगपरिमाणव्रत के अतिचारों में व्यतिक्रम तथा शिक्षाव्रतों के अन्तर्गत देशावकाशिक व्रत के अतिचार के वर्णन में अत्याश, सामायिक के अतिचारों के प्रसंग में अतिगम, प्रोषधोपवास के अतिचारों में व्यतिलंघन तथा वैयावृत्य के अतिचारों में व्यतिक्रम शब्द का प्रयोग अतिचार शब्द के लिए प्रयुक्त है<sup>19</sup> । इस बात से यह स्पष्ट है कि आचार्य समन्तभद्र का शब्द-भाण्डार कितना गहन और व्यापक है । एक शब्द के व्यवहार के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग वस्तुतः बड़ी बात है ।

अतिचारों के वर्णन के उपरान्त अणुव्रत के माहात्म्य को विवेच्य कृति में दर्शाया गया है जिसमें कहा गया है कि पञ्चाणुव्रतों के अतिचाररहित अनुपालन से जीव स्वर्ग में जन्म धारण करता है । उसे वहाँ जन्म से ही अवधि ज्ञान, अणिमा आदि आठ गुण तथा मनोहर वैक्रियिक शरीर प्राप्त होता है । यथा -

**पञ्चाणुव्रतनिधयो, निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकम् ।**

**यत्रावधिरष्टगुणा, दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते ॥63॥**

माहात्म्य के साथ ही एक ओर जहाँ अणुव्रत धारण करनेवाले कतिपय जगत्प्रसिद्ध पुरुषों के नाम - यमपाल चाण्डाल, धनदेव, वारिषेण, नीली और जयकुमार - बताए गए हैं वहीं दूसरी ओर पंच पापों में लीन प्रमुख व्यक्तियों के नाम- धनश्री, सत्यघोष, तापसी, यमदण्ड कोतवाल, श्मश्रुनवनीत भी परिगणित हैं<sup>20</sup> । नामावलि के उपरान्त आचार्य देव ने श्रावकों के अष्ट मूलगुणों की भी चर्चा की है जो अत्यन्त उपयोगी कही जा सकती है । उनके द्वारा प्रतिपादित अष्ट मूलगुण इस प्रकार से हैं - मद्य-त्याग, मांस-त्याग, मधु-त्याग तथा अहिंसादि पाँच अणुव्रतों का अनुपालन । यथा -

**मद्य-मांस-मधुत्यागैः सहाणुव्रत पञ्चकम् ।**

**अष्टौ मूल गुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥66॥**

अन्य अनेक जैनाचार्यों ने अपनी कृतियों में अष्ट मूलगुणों की गणना निम्न प्रकार से की है - मद्य-मधु-मांस तथा पाँच उदुम्बर फलों का परित्याग<sup>21</sup>; मद्य-मांस-मधु, रात्रिभोजन व पाँच उदुम्बर फलों का

त्याग, देव-वंदना, जीवदया करना, पानी छानकर पीना<sup>22</sup>; स्थूल हिंसादि पंच पापों से विरत, जुआ, मांस तथा मद्य का परित्याग<sup>23</sup>। इन भेदों में जो अन्तर व्याप्त हैं वह केवल विवक्षा का भेद है। मूल में तो स्थूल पंच पापों का त्याग ही श्रावकों के मूल गुण हैं क्योंकि अन्य उपर्युक्त पाप इन्हीं पंच पापों में समा जाते हैं<sup>24</sup>।

अणुव्रतों की चर्चा के उपरान्त आचार्य समन्तभद्र ने विवेच्य कृति में आर्याच्छन्द में पचपन श्लोकों में गुणव्रतों तथा शिक्षाव्रतों के स्वरूप-माहात्म्य तथा उनके अतिचारों का वर्णन प्रभावोत्पादकता के साथ प्रस्तुत किया है<sup>25</sup>।

अणुव्रतों के उपकारक व्रत गुणव्रत कहलाते हैं<sup>26</sup>। यही बात विवेच्य कृति में इस प्रकार से व्यवहृत है कि जो व्रतः अहिंसाणुव्रतादि गुणों का वर्द्धन करता है उसे गुणव्रत कहा जाता है। यथा -

**दिग्ब्रतमनर्थदण्ड-व्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम् ।**

**अनुबुंहणाद्गुणाना-माख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥67॥**

गुणव्रत तीन प्रकार के होते हैं, यथा- (1) दिग्ब्रत, (2) देशव्रत और (3) अनर्थदण्डव्रत। आचार्य समन्तभद्र ने भी गुणव्रतों की संख्या तीन मानी है, यथा - (1) दिग्ब्रत, (2) अनर्थदण्डव्रत और (3) भोगोपभोग परिमाणव्रत। उन्होंने देशव्रत को इसमें गृहीत नहीं किया है<sup>28</sup>। इन व्रतों के लक्षण-भेद के साथ ही भोगोपभोगपरिमाणव्रत को स्पष्ट करते हुए आचार्य ने इस व्रत में जो विशेष त्याग होता है उसे भी विवेचना का आधार बनाया है। इस संदर्भ में आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि मद्य, मांस और मधु से त्रसहिंसा होती है। अतः श्रावकों के लिए ये पदार्थ और इनके समान ही अन्य पदार्थ भी त्याज्य हैं। इतना ही नहीं अदरक, मूली, मक्खन, नीम के फूल, केतकी के फूल तथा इनके सदृश दूसरे पदार्थ भी भक्ष्य नहीं क्योंकि इनमें सूक्ष्म जीवों की हिंसा अधिक होती है। यथा -

**त्रसहतिपरिहरणार्थं, क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहतये ।**

**मद्यं च वर्जनीयं, जनचरणौ शरणमुपयातैः ॥84॥**

**अल्पफलबहुविघातान्मूलक माद्राणि शृङ्गवेराणि ।**

**नवनीतनिम्बकुसुमम्, कैतकमित्येवमवहेयम् ॥85॥**

आचार्य आगे कहते हैं कि व्रती पुरुष को अभक्ष्य, अनिष्ट और अनुपसेव्य पदार्थों का त्याग जीवन-पर्यन्त के लिए ही करना चाहिए पर योग्य पदार्थों का त्याग समय की मर्यादा लेकर भी किया जा सकता है। यथा-

**नियमो यमश्च विहितौ, द्वेषा भोगोपभोगसंहारात् ।**

**नियमः परिमितकालो, यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥87॥**

शिक्षाव्रत के संदर्भ में आचार्य समन्तभद्र चार प्रकार के शिक्षा व्रतों का उल्लेख करते हैं। यथा- देशावकाशिक सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य<sup>29</sup>। किन्तु अन्य जैनाचार्यों की कृतियों में शिक्षाव्रतों का उल्लेख इससे कुछ भिन्न प्रकार का मिलता है। वहां शिक्षाव्रत निम्न प्रकार से द्रष्टव्य है- सामायिक, शिक्षाव्रत, प्रोषधव्रत, अतिथि पूजा तथा सल्लेखना<sup>30</sup>; भोग-विरति, परिभोग-निवृत्ति, अतिथि संविभाग तथा सल्लेखना<sup>31</sup>; भोगोपभोग-परिमाण, सामायिक, प्रोषधोपवास तथा अतिथि संविभाग<sup>32</sup>। इन व्रतों का

पालनेवाला गृहस्थ सहसा मरण आने पर, जीवन की आशा न रहने पर जिसके बंधुगण ने दीक्षा लेने की सम्मति नहीं दी है, ऐसे प्रसंग में सल्लेखना धारण करता है<sup>33</sup>। प्रस्तुत कृति में शिक्षाव्रतों के अन्तर्गत देशावकाशिक व्रत के स्वरूप को स्थिर करते हुए इस व्रत में क्षेत्र और काल की मर्यादा को भी स्पष्ट किया गया है<sup>34</sup>। आचार्य कहते हैं कि दिग्ब्रत की भांति इस व्रत में भी मर्यादा के बाहर आना-जाना नहीं होने से स्थूल और सूक्ष्म दोनों पापों का परित्याग हो जाता है। इसलिए देशावकाशिक व्रती के भी उपचार से महाव्रत कहे जाते हैं। यथा-

**सीमान्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात् ।**

**देशावकाशिकेन च, महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ॥95॥**

सामायिक शिक्षाव्रत के लक्षण, विधि, समय, स्थान के साथ परीषह सहन करने पर विशेष बल दिया गया है<sup>35</sup>। सामायिक के समय क्या चिन्तन करना चाहिए- इस पर आचार्य कहते हैं कि संसार, अशरण और अशुभरूप आदि है तथा मोक्ष, शरण और शुभरूप आदि है। अस्तु, संसार में सच्चा सुख नहीं है, उस सुख के लिए मोक्ष पाने का प्रयत्न करना चाहिए। यथा -

**अशरणमशुभमनित्यं, दुःखमनात्मानमावसामि भवम् ।**

**मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥104॥**

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत में प्रत्येक चतुर्दशी और अष्टमी के दिन धर्मभाव से चारों प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है। इतना ही नहीं उपवास के दिन पंच पापों का, शृंगार, आरम्भ, गन्ध, पुष्प आदि का तथा स्नान, अञ्जन और नस्य-हुलास आदि का त्याग करना होता है। वास्तव में उपवास के दिन समय व्यर्थ न खोकर उत्साह से धर्मग्रन्थों के पढ़ने और सुनने में मन लगाया जाता है<sup>36</sup>। वैयावृत्य शिक्षा व्रत में प्रत्युपकार की वाञ्छा से रहित केवल धर्मबुद्धि से गृहत्यागी मुनिराज के लिए आहार, कमण्डलु, पिच्छी, शास्त्र आदि का दान देना होता है। वैयावृत्य में व्रती पुरुषों के गुणों का आदर करते हुए उनके कष्टों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है<sup>37</sup>।

इन व्रतों के प्रसंग में दान एवं अर्हन्त भगवान की पूजा करने का उल्लेख मिलता है। गृहस्थ में दान की प्रवृत्ति पायी जाती है। रत्नत्रय से युक्त जीवों के लिए अपने वित्त का त्याग करने या रत्नत्रय के योग्य साधनों के प्रदान करने की इच्छा का नाम दान है<sup>38</sup>। इसे दो रूपों में रूपायित किया जा सकता है - एक अलौकिक दान जो साधकों को दिया जाता है तथा दूसरा लौकिक दान जो साधारण व्यक्तियों के लिए होता है। जैसे समदत्ति, करुणादत्ति, औषधालय, स्कूल, सदाव्रत, प्याऊ आदि खुलवाना इत्यादि। अलौकिक दान चार प्रकार का होता है यथा आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान तथा अभयदान। यह परम सत्य है कि निरपेक्ष बुद्धि से सम्यक्त्वपूर्वक सद्पात्र को दिया गया अलौकिक दान दातार को परम्परा-मोक्ष प्रदान करता है। पात्र, कुपात्र व अपात्र को दिये गए दान में भावों की प्रधानता रहती है। भावानुरूप ही फल की प्राप्ति होती है<sup>39</sup>। आचार्य समन्तभद्र विवेच्यकृति में दान के सन्दर्भ में अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि सप्तगुण सहित (श्रद्धा, सन्तोष, भक्ति, विज्ञान, लोभ का अभाव, क्षमा, सत्य), वर्णसंकर आदि दोष रहित श्रावक के द्वारा पंच सूना (ऊखली, चक्की, चूल्हा, पानी के घट तथा प्रमार्जन-झाड़ू/बुहारी आदि) के आरम्भ से रहित मुनि आदि श्रेष्ठ पुरुषों का नवधा भक्तिपूर्वक (पडिगाहन, उच्चस्थान,



पादोदक, अर्चा, प्रणाम, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कामशुद्धि तथा भोजनशुद्धि) आदर-सत्कार करना वस्तुतः दान है। यथा-

**नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः, सप्तगुण समाहितेन शुद्धेन।**

**अपसूनारम्भाणामार्याणमिष्यते दानम् ॥113॥**

आचार्य विवेच्यकृति में 'दानं वैयावृत्यं' कहते हैं अर्थात् धर्म का साधन करने के लिए गुणी पात्र को भक्ति एवं विधिपूर्वक फल की आशा नहीं रखते हुए शक्त्यानुसार आहार, औषध, उपकरण तथा आवास का दान वैयावृत्य है। यथा -

**आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।**

**वैयावृत्यं ब्रुवते, चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥117॥**

आचार्य दान का माहात्म्य बताते हुए कहते हैं कि विधिपूर्वक सत्पात्र को दान करने से अनेक उत्तम फल प्राप्त होते हैं जिस प्रकार जल रक्त को धो देता है उसी प्रकार गृहरहित मुनियों को दिया हुआ दान भी गृहकार्यों से संचित ज्ञानावरणादि कर्मों को निश्चय से दूर करता है। इतना ही नहीं तपस्वी मुनियों को प्रणाम करने से उच्चगोत्र, दान देने से पाँचों इंद्रियों के भोग-उपभोग, नवधा भक्ति करने से प्रतिष्ठा, भक्ति से सुन्दर रूप और उनकी स्तुति करने से यशकीर्ति का प्राप्त होना बताया है<sup>40</sup>। इसी क्रम में आचार्य जिनेन्द्र-पूजा पर बल देते हुए कहते हैं कि इच्छित फल देनेवाले और कामदेव को भस्म करनेवाले जिनेन्द्र देव के चरणों में सदा आदरपूर्वक सर्त्रं दुःखों को हरनेवाली पूजा करनी चाहिए। भगवान की भक्तिपूर्वक पूजा से निश्चय ही स्वर्ग आदि समस्त पद प्राप्त होते हैं<sup>41</sup>।

विवेच्य कृति में सल्लेखना जैसे गूढ़ विषय का स्पष्ट व सरल शब्दावलि में निरूपण निश्चयेन आचार्य समन्तभद्र की ज्ञान-गरिमा को उद्घाटित करता है। सल्लेखना जैन दर्शन से अनुप्राणित एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है भली प्रकार से काय और कषाय का लेखन करना अर्थात् कृश करना। सल्लेखना में बहिरंग में शरीर का और अन्तरंग में कषायों का, फिर उत्तरोत्तर काय और कषाय को पुष्ट करनेवाले कारणों को घटाते हुए भलीभांति लेखन या कृश करना होता है<sup>42</sup>। सल्लेखना की व्याख्या विवेच्य कृति में इस प्रकार से अभिव्यक्त है कि उपायरहित उपसर्ग, दुष्काल, बुढ़ापा, रोगादि आने पर रत्नत्रय स्वरूप, धर्म का उत्तम रीति से पालनार्थ शरीर छोड़ना सल्लेखना है। यथा -

**उपसर्गे दुर्भिक्षे, जरसि रूजायां च निःप्रतीकारे।**

**धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥122॥**

समाधिमरण इसी का अपर नाम है। सल्लेखना आत्महत्या नहीं है अपितु आज भी अपनी प्रासंगिकता को समेटे हुए है। सल्लेखना की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा गया है कि आयु के अन्त में संन्यासपूर्वक मरण होना ही तप का फल है। अस्तु शक्त्यानुसार इसको साधने का प्रयत्न करना चाहिए। सल्लेखना की अपनी एक विधि है, विधान है। उस विधि का भी उल्लेख विवेच्य कृति में परिलक्षित है। समाधिमरण करनेवाला व्रती सर्वप्रथम अपने कुटुम्बीजन तथा दूसरे लोगों पर क्षमा करता हुआ उनसे अपने प्रति भी क्षमा चाहता है तदुपरान्त कृत-कारित-अनुमोदनपूर्वक समस्त पापों की दोषरहित आलोचनाकर चित्त को परिशुद्ध

करता हुआ जीवनपर्यन्त पंच महाव्रतों को धारण करता है। ऐसा साधक शोक, भय, विषाद, स्नेह-द्वेष और अरति से पृथक् होता हुआ वैराग्यवर्द्धक धर्मशास्त्रों की ओर प्रवृत्त होता है। फिर क्रम से आहार को छोड़कर दूध का सेवन, फिर इनका भी परित्याग कर गर्म जल (प्रासुक जल) का सेवन, अन्ततोगत्वा इसे भी त्यागकर उपवास करता हुआ णमोकार महामंत्र के ध्यान में लवलीन होता हुआ सावधानीपूर्वक चेतना के साथ अपने प्राणों का विसर्जन करता है<sup>43</sup>। विवेच्य कृति में सल्लेखना के अतीचारों (जीविताशांसा, मरणाशांसा, भय, मित्रस्मृति तथा निदान) का भी उल्लेख हुआ है। इनमें अलिप्त रहकर सल्लेखनाधारी जीव मरणोपरान्त स्वर्ग और मोक्षपद पर प्रतिष्ठित होता है<sup>44</sup>। मोक्ष या निःश्रेयस का अभिप्राय है जन्म-जरा आदि दोषों से रहित अविनाशी सुख। इस पद पर अनन्त ज्ञानादि गुणों के धारक सिद्ध भगवान ही अनन्त काल तक सुखपूर्वक विराजते हैं। सिद्धात्मा कर्मरहित होने के कारण किट्ट-कालिमा आदि रहित सुवर्ण के समान प्रकाशमान होते हैं और वे तीन लोक के ऊपर कलश के समान शोभा पाते हैं<sup>45</sup>।

श्रावक से सिद्धावस्था तक की यात्रा के लिए व्यक्ति को क्रमशः श्रेणीबद्ध नियमों का पालन करना होता है। श्रावक के ये नियम प्रतिमा से विभूषित हैं। एक-एक प्रतिमा को पालता हुआ श्रावक मुनिधर्म को अंगीकारकर अन्ततोगत्वा सिद्धावस्था की ओर उन्मुख होता जाता है। ये प्रतिमाएं ग्यारह होती हैं दर्शन-प्रतिमा, व्रतप्रतिमा, सामायिकप्रतिमा, प्रोषधप्रतिमा, सचित्तत्यागप्रतिमा, रात्रिभुक्तित्यागप्रतिमा, ब्रह्मचर्यप्रतिमा, आरम्भत्यागप्रतिमा, परिग्रहत्यागप्रतिमा, अनुमतित्यागप्रतिमा तथा उद्दिष्टत्यागप्रतिमा। इन प्रतिमाओं को धारण करनेवाला श्रावक तीन प्रकार से विभक्त है- एक जघन्य, दूसरा मध्यम तथा तीसरा उत्तम श्रावक। जघन्य श्रावक पहली प्रतिमा से छठी प्रतिमा तक का धारी होता है जबकि मध्यम श्रेणी श्रावक सातवीं से नवमी प्रतिमा तक का धारण करनेवाला होता है। दशवीं तथा ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। विवेच्य कृति में प्रतिमाओं के स्वरूप को भली-भाँति दर्शाया गया है<sup>46</sup>।

अन्त में इन्द्रवज्रा छन्द में आचार्य समन्तभद्र इस ग्रन्थ के माहात्म्य को प्रकट करते हुए कहते हैं कि जिसने अपने आप निर्दोष ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपी रत्नों के पिटारे को प्राप्त किया है उसको तीनों लोकों में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धिरूप स्त्री मानो पति की इच्छा से ही स्वयं प्राप्त हो जाती है। यथा-

**येन स्वयंवीतकलंकविद्या-दृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावम्।**

**नीतस्तमायाति पतीच्छयेव, सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ॥149॥**

1. सर्वार्थसिद्धि, 9.2.409.11।
2. रत्नकरण्ड श्रावकचार, श्लोक 2।
3. वही, श्लोक 4-41।
4. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 4, पृष्ठ 345।
5. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 5-10।
6. वही, श्लोक 22-24।
7. वही, श्लोक 11-20।
8. नियमसार, ता.वृ, 112।
9. मूलाचार, 53।
10. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 25-27।

11. वही, 28-41।
12. वही, 43-46।
13. सर्वार्थसिद्धि, 1.5.8।
14. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 49।
15. वही, 50-51।
16. (क) तत्त्वार्थ सूत्र, 7.1 (ख) धवला, 8.3, 41.82.5।
17. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 72।
18. वही, 52-62।
19. वही, 54, 56, 58, 60, 62, 73, 81, 90, 96, 105, 110, 121।
20. वही, 64-65।
21. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, श्लोक 61।
22. सागारधर्माभूत, पं. आशाधर, 2.18।
23. चारित्रसार, 30.3।
24. राजवार्तिक, हिन्दी, 7.20.558।
25. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 67-121।
26. सागार धर्माभूत, 5.1।
27. (क) महापुराण, 10.165 (ख) भगवती आराधना, मूल, 2081।
28. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 67।
29. वही, 91।
30. चारित्र पाहुड, मूल 26।
31. वसुनन्दि श्रावकाचार, 217-219, 270।
32. भगवती आराधना, मूल, 2082-2083।
33. सर्वार्थसिद्धि, 7.21, 22।
34. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 93-94।
35. वही, 97-103।
36. वही, 106-108।
37. वही, 111-112।
38. धवला, 13.5, 5, 137.389.12।
39. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी, भाग 2, पृष्ठ 420।
40. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 114-116।
41. वही 119-120।
42. (क) सर्वार्थसिद्धि, 7.22, 363.1 (ख) भगवती आराधना, मूल, 206/423।
43. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, 124-128।
44. वही, 129-130।
45. वही, 131-134।
46. वही, 136-147।

‘मंगल कलश’

394, सर्वोदय नगर, आगरा रोड,  
अलीगढ़ (उ.प्र.), 202001

## स्वामी समन्तभद्र की वाणी के आलोक में दैव और पुरुषार्थ

- डॉ. सूरजमुखी जैन



विश्व की विषम परिस्थितियों में होनेवाली अचिन्त्य घटनाओं को देखकर मनीषियों ने दैव और पुरुषार्थ के सम्बन्ध में विभिन्न मत व्यक्त किये हैं। किसी के विचार से सभी इष्टानिष्ट घटनाओं के घटित होने का कारण एकमात्र दैव है तो अन्य के विचार से एकमात्र पुरुषार्थ।

दैववादी मीमांसकों के विचार से एकमात्र दैव ही कार्यसिद्धि में कारण है, पुरुषार्थ कुछ नहीं कर सकता। मनुष्य जिसकी कभी कल्पना भी नहीं कर सकता उस प्रकार की परिस्थितियाँ अकस्मात् उपस्थित हो जाती हैं। नारायण कृष्ण का जन्म कारागार में हुआ, मृत्युकाल में भी उनके निकट उनकी सहायता करनेवाला कोई नहीं था। महान् योद्धा लंकापति रावण रणभूमि में मृत्यु को प्राप्त हुआ। बलभद्र राम को राजसिंहासन छोड़कर वन-वन भटकना पड़ा। महासती सीता को गर्भावस्था में भयंकर वन के दुःखों का सामना करना पड़ा। सती अञ्जना को बाईस वर्ष तक पतिवियोग की दारुण पीड़ा सहनी पड़ी। पाण्डव जैसे महासुभट तेरह वर्ष तक अज्ञातवास में रहे। नारायण का पुत्र प्रद्युम्न सोलह वर्ष तक माता-पिता से पृथक् कर दिया गया। बारात सजाकर जानेवाले दूल्हा नेमिराज वैरागी बन गये, यौवन के उमंग में उल्लासित दुल्हन राजुल भी अविवाहित रही। कोटिभट श्रीपाल व्यापार को निकला था, किन्तु गम्भीर सागर की उत्ताल तरंगों के मध्य जा पड़ा। एकाकी असहाय रैनमंजूषा की रक्षा के लिए नाव में ही शासन देव तथा देवियां उपस्थित हो गयीं। इस प्रकार की आकस्मिक घटनाओं के घटित होने का नाम ही भवितव्यता या दैव है, यह भवितव्यता दुर्निवार है।

राजा भर्तृहरि नीतिशतक में दैव की प्रभुता प्रदर्शित करते हुए कहते हैं —

जिस इन्द्र का शिक्षक देवगुरु बृहस्पति था, वज्र जैसा जिसका शस्त्र था, देवगण जिसके सैनिक थे, स्वर्ग जिसका दुर्ग था, विष्णु का जिस पर अनुग्रह था, जिसका प्रधान गज दिग्गजेन्द्र था इस प्रकार की असाधारण शक्ति से सम्पन्न इन्द्र भी संग्राम में दानवों के द्वारा पराजित कर दिया गया। अतः केवल दैव ही रक्षक है, शरण है, पुरुषार्थ वृथा है उसे धिक्कार है<sup>1</sup>।

विधि की बलवत्ता सिद्ध करते हुए वे पुनः कहते हैं —

सर्प तथा हाथी जैसे बलशाली का बन्धन में बाँधा जाना, सूर्य तथा चन्द्रमा जैसे तेजस्वियों का राहु द्वारा ग्रसा जाना और विद्वानों की दरिद्रता को देखकर यही कहना पड़ता है कि सर्वत्र भाग्य ही बलवान है, पुरुषार्थ कुछ नहीं है<sup>2</sup>।

वे कहते हैं— 'न तो मनुष्य की आकृति ही फल देती है, न कुल, न शील, न विद्या से सफलता मिलती है, न सेवा से, अपितु पूर्वकाल के तप से सञ्चित भाग्य ही समय पर फल देता है<sup>3</sup>। जिस मनुष्य का पूर्वकाल का पुण्य (भाग्य) प्रबल होता है, उसके लिए भयानक जंगल भी प्रधान नगर बन जाता है, सभी लोग उसके अनुकूल हो जाते हैं, सम्पूर्ण पृथ्वी उसके लिए विशाल निधि एवं रत्नों से परिपूर्ण हो जाती है<sup>4</sup>।

पौरुषवादी चार्वाक आदि दैव को व्यर्थ सिद्ध करते हुए केवल पुरुषार्थ को ही सफलता का कारण मानते हैं। वे कहते हैं — 'केवल पुरुषार्थ से ही कार्य की सिद्धि होती है। सिंह जैसे बलवान पशुराज को भी प्रयत्न से ही अपनी क्षुधा-शान्ति के लिए पशु प्राप्त करना पड़ता है। सोते हुए सिंह के मुख में स्वयं पशु प्रवेश नहीं करते<sup>5</sup>। उद्योगी व्यक्ति ही लक्ष्मी को प्राप्त कर सकता है, भाग्य से ही सब कुछ मिलता है, ऐसा कायर व्यक्तियों का कथन है। अतः भाग्य पर आश्रित न रहकर पुरुषार्थ करना ही श्रेयस्कर है<sup>6</sup>।

जिन शासन में दैव तथा पुरुषार्थ दोनों को महत्व दिया गया है। जहां पुरुषार्थ के बिना ही इष्टानिष्ठ की प्राप्ति होती है वहां दैव की प्रधानता और पुरुषार्थ की गौणता है; जहां पुरुषार्थ से ही इष्टानिष्ठ की प्राप्ति होती है वहां पुरुषार्थ की प्रधानता है और दैव की गौणता। यद्यपि दैव और पुरुषार्थ दोनों में से एक के भी अभाव में कार्य-सिद्धि नहीं होती, तो भी पुरुषार्थ को अधिक महत्व दिया गया है। क्योंकि दैव भी पूर्वकृत पुरुषार्थ का ही फल है। कठिन पुरुषार्थ से दैव की शक्ति को क्षीण किया जा सकता है। दैववश दुर्घटनाओं के घटित होते समय मनुष्य विवेक तथा पुरुषार्थ से काम नहीं लेता तो दैव विजयी हो जाता है। और यह मान लिया जाता है कि होनहार बलवान है। इसके विपरीत पुरुषार्थी व्यक्ति अन्धविश्वास को त्यागकर आत्म विश्वास को जागृतकर उत्थान की ओर अग्रसर होता हुआ उन्नति के चरम सोपान पर पहुंच जाता है।

श्रुतधराचार्य स्वामी समन्तभद्र ने भगवान महावीर की वाणी के अनुसार स्याद्वादनय को अपनाते हुए दैव और पुरुषार्थ दोनों के महत्व को स्वीकार किया है। वे दैववादी मीमांसक आदि के मत का निराकरण करते हुए कहते हैं- केवल दैव से ही कार्यसिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि दैववादी भी अच्छे-बुरे आचरणरूपी पुरुषार्थ को ही दैव का कारण मानते हैं। यदि सभी कार्य दैव से ही सिद्ध हो जाते तो दैव के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता न होती। यदि दैव से ही दैव की उत्पत्ति मानी जाय तो पुनः उस दैव के लिए

अन्य दैव की आवश्यकता होगी, इस प्रकार अनवस्था तो होगी ही, मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा। ऐसी अवस्था में मोक्ष के लिए अथवा अन्य किसी कार्य के लिए पुरुषार्थ व्यर्थ ही सिद्ध होगा। अतः पूर्व कर्म अथवा योग्यता दैव है जो अदृष्ट है और इस लोक में किया गया प्रयत्न पुरुषार्थ है, जो दृष्ट है। इन दोनों के सहयोग से ही प्रयोजन की सिद्धि होती है, इन दोनों में से एक के भी अभाव में प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती।<sup>7</sup>

पुरुषार्थवादी चार्वाक आदि के मत का निराकरण करते हुए वे कहते हैं - केवल पुरुषार्थ से ही सब कार्य सिद्ध नहीं हो सकते। पुरुषार्थ भी दैव (पुण्यपापरूपकारण सामग्री) के अनुसार ही फलित होता है। 'तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसयश्च तादृशः सहायास्तादृशः सन्ति यादृशी भवितव्यता' - ऐसी लोक में भी प्रसिद्धि है। यदि यह मान लिया जाय कि बुद्धि, व्यवसाय आदि पुरुषार्थ भी पुरुषार्थ से ही होते हैं तो सभी का पुरुषार्थ सदैव सफल होना चाहिये और समान पुरुषार्थ से सबको समान फल मिलना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता। एक व्यक्ति कठिन परिश्रम करने पर भी कृषि आदि कार्यों में सफल नहीं होता और दूसरा व्यक्ति बिना प्रयत्न के अथवा कम प्रयत्न करके भी सफल होते देखा जाता है। कुशाग्र बुद्धिवाला व्यक्ति अल्पकाल में कम प्रयत्न करके भी प्रकाण्ड विद्वान् हो जाता है, जबकि मन्दबुद्धि दीर्घकाल तक अथक प्रयत्न करने पर भी अल्पज्ञ ही रह जाता है<sup>8</sup>।

कुछ मीमांसकों का मत है कि स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति दैव से होती है और कृषि आदि कार्य पुरुषार्थ से सफल होते हैं। अतः कहीं एकान्तरूप से दैव ही कार्यसिद्धि में सहायक है और कहीं एकमात्र पुरुषार्थ। आचार्य समन्तभद्र उनके इस कथन का विरोध करते हुए कहते हैं कि स्याद्वादनाय से द्वेष रखनेवाले एकान्तवादियों का यह कथन भी समीचीन नहीं है क्योंकि लोक में इसके विरुद्ध भी देखा जाता है<sup>9</sup>।

अन्त में स्याद्वादीनीति का अनुसरण करते हुए वे कहते हैं - अबुद्धिपूर्वक किये गये कार्य से जो इष्टानिष्ट की प्राप्ति होती है वहां दैव की प्रधानता है और पुरुषार्थ की गौणता। जहां बुद्धिपूर्वक किये हुए कार्यों से इष्टानिष्ट की प्राप्ति होती है, वहां पुरुषार्थ की प्रधानता है और दैव की गौणता। दैव तथा पुरुषार्थ दोनों में से किसी एक के बिना कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा सफल नहीं हो सकता<sup>10</sup>।

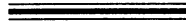
1. नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुरा सैनिकाः ।  
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः खलु हरैरावणो वारणः ।  
इत्याश्चर्यं व लान्वितोऽपि त्रलभिद् भयः परैः संगरे,  
तद् व्यक्तं खलु दैवमेव शरणं धिग्धिवृथा पौरुषम् ॥४२॥ भतुहरिः, नीतिशतक
2. गजभुजंगमयोरपि बन्धनम्  
शशि दिवाकरयोर्गृहपीडनम् ।  
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रताम् :  
विधिरहो बलवानिति में मति : ॥४६॥ -वही

3. नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं,  
विद्यापि नैव न च यत्नकृतापि सेवा ।  
भाग्यानि पूर्वतपसा खलु संचितानि ।  
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः ॥99॥ -वही
4. भीम वनं भवति तस्य पुरं प्रधानम्,  
सर्वो जनः सुजनतामुपयाति तस्य ।  
कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नगर्भा,  
यस्यास्ति पूवसुकृतं विपुलं नरस्य ॥102॥ -वही
5. उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।  
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥36॥ -हितोपदेश
6. उद्योगिनं पुरुषसिंहं मुपैति लक्ष्मीः,  
दैवेन देयमिति कापुरुषाः वदन्ति ।  
दैव निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,  
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥217॥ -पंचतंत्र, प्रथम तंत्र
7. देवादेवार्थसिद्धिश्चैवं पोरुषतः कथम् ।  
दैवतश्चेदनिर्माक्षः पोरुषं निष्फलं भवेत् ॥88॥ -स्वामी समन्तभद्र,, आप्तमीमांसा
8. पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम् ।  
पौरुषाच्चेदमोघं स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥89॥ -वही
9. विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादनय विद्विषाम् ॥90॥ -वही
10. अबुद्धिपूर्वपेक्षायामिष्टानिष्टंस्वदैवतः ।  
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपोरुषात् ॥91॥ -वही

अलका

35, इमामबाड़ा

मुजफ्फरनगर - 251002



## समन्तभद्र स्वामी का आयुर्वेद विषयक कर्तृत्व

- आचार्य राजकुमार जैन

जैन वाङ्मय के रचयिताओं तथा जैन संस्कृति के प्रभावक आचार्यों में श्री समन्तभद्र स्वामी का नाम अत्यन्त श्रद्धा एवं आदर के साथ लिया जाता है। आप एक ऐसे सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली आचार्य रहे हैं जिन्होंने वीरशासन के रहस्य को हृदयंगम कर दिग्-दिगन्त में उसे व्याप्त किया। आपके वैदूष्य का एक वैशिष्ट्य यह था कि आपने समस्त दर्शनों का गहन अध्ययन किया था और उनके गूढ़तम रहस्यों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया। आपने धर्मशास्त्र के मर्म को हृदयंगमकर उसके आचारण-व्यवहार में विशेष-रूप से तत्परता प्रकट की। आपकी पूजनीयता एवं महनीयता के कारण ही परवर्ती अनेक आचार्यों एवं मनीषियों ने अत्यन्त श्रद्धा एवं बहुमानपूर्वक आपको स्मरण किया है। आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने 'युक्त्यनुशासन टीका' के अन्त में आपको 'परीक्षेक्षण'-परीक्षा नेत्र से सबको देखनेवाले लिखा है। इसी प्रकार अष्टसहस्री में आपके वचन-महात्म्य का गौरव ख्यापित करते हुए आपको बहुमान दिया गया है। श्री अकंलकदेव ने अपने ग्रंथ 'अष्टशती' में आपको 'भव्यैकलोकनयन' कहते हुए आपकी महनीयता प्रकट की है। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में कवियों, गमकों, वादियों और वाग्मियों में समन्तभद्र का यश चूड़ामणि की भांति सर्वोपरि निरूपित किया है। इसी भांति जिनसेन सूरि ने हरिवंश पुराण में, वादिराज सूरि ने *न्याय विनिश्चय-विवरण तथा पार्श्वनाथ चरित में, वीरनन्दि ने चन्द्रप्रभ चरित में, हस्तिमल्ल ने विक्रान्त कौरव नाटक में तथा अन्य अनेक ग्रंथकारों ने भी अपने-अपने ग्रंथ के प्रारम्भ में इनका बहुत ही आदरपूर्वक स्मरण किया है। इससे समन्तभद्र स्वामी का वैदूष्य, ज्ञान, गरिमा, पूजनीयता और परवर्ती आचार्यों पर प्रभाव भली-भाँति ज्ञात होता है।*

जैनाचार्यों की परम्परा में स्वामी समन्तभद्र की ख्याति एक तार्किक विद्वान के रूप में थी और वे



श्रमणचर्या के परिपालन में ही निरन्तर तत्पर रहते थे। मुनि-चर्या का निर्दोष पालन करना उनके जीवन की प्रमुख विशेषता थी। वे असाधारण प्रतिभा के धनी, अध्यात्म-विद्या के पारंगत और जिनधर्म के धारक निर्गन्धवादी महान् व्यक्तित्व के धनी थे। उनके जीवन-क्रम, जीवन की असाधारण अन्यान्य घटनाओं तथा उनके द्वारा रचित ग्रंथों को देखने से ज्ञात होता है कि उनके द्वारा जैन धर्म का प्रभूत प्रचार एवं अपूर्व प्रभावना हुई। इसका एक मुख्य कारण यह है कि आप श्रद्धा, भक्ति और गुणज्ञता के साथ बहुत बड़े अर्हदभक्त और अर्हद्गुण प्रतिपादक थे जिसकी पुष्टि आपके द्वारा रचित स्वयंभू स्तोत्र, देवागम, युक्त्यनुशासन और स्तुतिविद्या (जिनशतक) नामक स्तुति ग्रंथों से होती है। इन ग्रंथों से आपकी अद्वितीय अर्हद्भक्ति प्रकट होती है।

एक ओर आप जहाँ क्षत्रियोचित तेज से देदीप्यमान अपूर्व व्यक्तित्वशाली पुरुष थे वहाँ आत्महित चिन्तन में तत्पर रहते हुए लोकहित की उत्कृष्ट भावना से परिपूरित थे। यही कारण है कि राज्य-वैभ्रम के आधारभूत भौतिक सुख और गृहस्थ-जीवन के भोग-विलास के मोह में न फँसकर आपने त्यागमय जीवन को अंगीकार किया और साधुवेश धारणकर देशाटन करते हुए सम्पूर्ण देश में जैनधर्म की दुंदुभि बजाई। लगता है कि आपने अत्यन्त अल्प समय में ही जैन धर्म-दर्शन-न्याय और समस्त सैद्धान्तिक विषयों में अगाध पाण्डित्य अर्जित कर लिया था। क्योंकि देशाटन करते हुए वे प्रायः वहीं पहुँच जाते थे जहाँ उन्हें किसी महावादी या किसी वादशाला के होने का पता चलता था। वहाँ पहुँचकर वे अपने वाद का डंका बजाकर स्वतः ही वाद के लिए विद्वानों का आह्वान करते थे। यह तथ्य उनके उस पद्य से उद्घाटित होता है जो उन्होंने किसी राजा के सम्मुख आत्म-परिचय देते हुए प्रस्तुत किया था।<sup>1</sup>

### आयुर्वेदज्ञता

श्री समन्तभद्र स्वामी जैन सिद्धान्त, धर्म, दर्शन, और न्याय-शास्त्र के अगाध पाण्डित्य से परिपूर्ण महान् तार्किक एवं उद्भट विद्वान् थे। उनके ज्ञान-रवि ने चारों ओर ऐसा प्रकाशपुंज फैला रखा था जिसमें जैन धर्म का महात्म्य निरन्तर उद्भासित था। इस संदर्भ में यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि इसके साथ ही वे आयुर्वेद शास्त्र में निष्णात कुशल वैद्य भी थे। क्योंकि निम्न पद्य में जहाँ उन्होंने स्वयं के आचार्य, कविवर, वादिराट, पण्डित (गमक), दैवज्ञ (ज्योतिर्विद्), मान्त्रिक (मंत्र विशेषज्ञ), तांत्रिक (तंत्र विशेषज्ञ), आज्ञासिद्ध, सिद्ध सारस्वत आदि विशेषण बताए हैं वहाँ आयुर्वेद शास्त्र में पारंगत कुशल वैद्य होने के कारण उन्होंने स्वयं के लिए 'भिषग्' विशेषण भी उल्लिखित किया है जो उनकी आयुर्वेदज्ञता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं ।

देवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिस्तान्त्रिकोहं ।

राजन्नस्यां जलधि वलया मेखलायामिलायाम् ।

आज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोहम् ॥

इस श्लोक में आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अपने जो विशेषण बतलाए हैं उनसे असाधारण व्यक्तित्व, बहुशास्त्रज्ञता एवं प्रकाण्ड पाण्डित्य का आभास सहज ही मिल जाता है। इसमें अन्त के दो विशेषण विशेष

महत्वपूर्ण हैं जो उनकी विलक्षणता के द्योतक हैं। वे राजा को सम्बोधित करते हुए कहते हैं - हे राजन् ! समुद्र-वलयावली इस पृथ्वी पर मैं 'आज्ञासिद्ध' हूँ अर्थात् जो आज्ञा देता हूँ वह अवश्य पूरी होती है। और अधिक क्या कहूँ ? मैं 'सिद्ध सारस्वत' हूँ अर्थात् सरस्वती मुझे सिद्ध है। इन्हीं विशेषणों के साथ उन्होंने स्वयं को राजा के सम्मुख 'भिषग्' भी निरूपित किया है। सामान्यतः भिषग् वही होता है जिसने आयुर्वेद शास्त्र का अध्ययन कर उसमें निपुणता प्राप्त की हो। असाधारण व्यक्तित्व के धनी और विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य समन्तभद्र के लिए आयुर्वेद शास्त्र में निष्णात् होना कोई कठिन बात नहीं थी। अतः उन्होंने लोकहित की भावना से प्रेरित होकर अपने आयुर्वेदीय ज्ञान के आधार पर जैन सिद्धान्तानुसारी लोकोपयोगी किसी आयुर्वेद ग्रंथ का प्रणयन किया हो - यह असम्भव प्रतीत नहीं होता।

इस पद्य का अध्ययन करने से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि इस पद्य में श्री समन्तभद्र स्वामी ने अपने जिन विशेषणों का उल्लेख किया है वह आत्म-श्लाघावश नहीं किया है अपितु किसी राजदरबार में राजा के सम्मुख आत्म-परिचय प्रस्तुत करते हुए किया है। उस काल में किसी राजा के सम्मुख आत्म-परिचय में अपने मुख से इस प्रकार के विशेषण प्रयुक्त करना साधारण बात नहीं थी। क्योंकि उन्हें उसकी सार्थकता भी सिद्ध करनी होती थी।

स्वामी समन्तभद्राचार्य के असाधारण व्यक्तित्व के संदर्भ में यह पद्य निश्चय ही महत्वपूर्ण है। क्योंकि इससे उनकी अन्यान्य विशेषताओं के साथ-साथ उनका भिषगत्व (आयुर्वेदज्ञता) भी प्रमाणित होता है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रमाण और मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि वे वैद्यक विद्या के पूर्ण ज्ञाता थे। उन्होंने अपने स्तोत्र ग्रंथों में भगवान का जो स्तुतिगान किया है उसमें उन्होंने भगवान को वैद्य की भाँति सांसारिक तृष्णा रोगों का नाशक बतलाया है। श्री शंभवजिन का स्तवन करते हुए वे कहते हैं - हे शम्भव जिन ! सांसारिक तृष्णा-रोगों से पीड़ित जन के लिए आप इस लोक में उसी भाँति आकस्मिक वैद्य हुए हैं जिस प्रकार अनाथ (धन आदि से विहीन असहाय जन) के रोगोपशमन के लिए कोई चतुर वैद्य होता है<sup>2</sup>।

इसी प्रकार भगवान शीतलनाथ की स्तुति करते हुए उन्हें भिषगोपम निरूपित किया है। वे कहते हैं - जिस प्रकार वैद्य विष-दाह से मूर्च्छित स्वशरीर को विषापहार मंत्र के गुणों से (उसकी अमोघ शक्ति के प्रभाव से) निर्विष एवं मूर्च्छारहित कर देता है उसी प्रकार हे शीतल जिन, आपने सांसारिक सुखों की अभिलाषारूप अग्नि के दाह से - (चतुर्गति सम्बन्धी दुःख-सन्ताप से) मूर्च्छित हुए (हेयोपादेय के विवेक से शून्य हुए) अपने मन (आत्मा) को ज्ञानरूपी अमृतजल के सिंचन से मूर्च्छारहित-शान्त किया है<sup>3</sup>।

ये दोनों ही उद्धरण इस बात का संकेत करते हैं कि श्री समन्तभद्र स्वामी वैद्योचित गुणों और वैद्य द्वारा की जानेवाली क्रिया-चिकित्सा-विधि के पूर्ण ज्ञाता थे। इसलिए उन्होंने श्री शम्भव जिन और श्री शीतल जिन को वैद्य 'भिषग्' की उपमा देकर वैद्य का महत्व बढ़ाया है। वैद्यक विद्या का ज्ञान होने के कारण ही सम्भवतः उन्हें वैद्य और जिनेन्द्र देव के कतिपय कार्यों में समानता की प्रतीति हुई। इस कथन का आशय मात्र इतना ही है कि श्री समन्तभद्र स्वामी अन्य विषयों की भाँति आयुर्वेद के ज्ञान से भी अन्वित थे। साथ ही यह तो सुविदित है कि जब वे भस्मक महाव्याधि से पीड़ित हुए तो स्वयं ही उसके उपचार में

तत्पर हुए और कुछ काल पश्चात् उस पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली। अतः उनका 'भिषग्' होना सार्थक है जो उनकी आयुर्वेदज्ञता की पुष्टि करता है।

### आयुर्वेद ग्रंथ कर्तृत्व

स्वामी समन्तभद्र की वर्तमान में कोई भी आयुर्वेद कृति उपलब्ध नहीं है। अतः कुछ विद्वान् उनका आयुर्वेद कर्तृत्व संदिग्ध मानते हैं। वर्तमान में स्वामी समन्तभद्र की पांच कृतियां उपलब्ध हैं—देवागम (आप्त मीमांसा), स्वयम्भू स्तोत्र, युक्त्यनुशासन, जिनशतक (स्तुति विद्या) और रत्नकरण्ड श्रावकाचार। इनके अतिरिक्त 'जीवसिद्धि' नामक उनकी एक कृति का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु वह अभी तक कहीं से उपलब्ध नहीं हुई है। ऊपर उनकी जिन कृतियों का उल्लेख किया गया है उनमें से किसी भी कृति का सम्बन्ध आयुर्वेद से नहीं है। सभी कृतियाँ जैन दर्शन, जैनाचार, स्तुतिविद्या आदि से सम्बन्धित हैं। अतः वर्तमान में उपलब्ध उनके ग्रंथों के आधार पर यह कह सकना कठिन है कि उन्होंने आयुर्वेद के किसी ग्रंथ की रचना की होगी।

इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि नवम शताब्दी के विद्वान् श्री उग्रादित्य आचार्य ने अपने ग्रंथ 'कल्याणकारकम्' में स्पष्टतापूर्वक इस तथ्य को उद्घाटित किया है कि आचार्य समन्तभद्र ने आयुर्वेद विषय को अधिकृत कर किसी ग्रंथ की रचना की थी जिसमें विस्तारपूर्वक अष्टांग वैद्यक का प्रतिपादन किया गया है। उन्होंने आगे यह भी स्पष्ट किया है कि समन्तभद्र के उस 'अष्टांग संग्रह' ग्रंथ का अनुसरण करते हुए मैंने संक्षेप में इस 'कल्याणकारकम्' ग्रंथ की रचना की है। श्री उग्रादित्य आचार्य के इस उल्लेख से यह असंदिग्ध रूप से प्रमाणित होता है कि उनके काल में श्री समन्तभद्र स्वामी का अष्टांग वैद्यक विषयक कोई महत्वपूर्ण ग्रंथ अवश्य ही विद्यमान एवं उपलब्ध रहा होगा।

### सिद्धान्त रसायन कल्प

इसी संदर्भ में एक यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि कल्याणकारक ग्रंथ की प्रस्तावना में श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री ने आचार्य समन्तभद्र स्वामी की अद्वितीय विद्वत्ता का निरूपण करते हुए उनके द्वारा 'सिद्धान्तरसायन कल्प' नामक वैद्यक ग्रंथ की रचना किए जाने का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि पूज्यपाद के पहले महर्षि समन्तभद्र हर एक विषय में अद्वितीय विद्वत्ता को धारण करनेवाले हुए। आपने न्याय, सिद्धान्त के विषय में जिस प्रकार प्रौढ़ प्रभुत्व प्राप्त किया था उसी प्रकार आयुर्वेद के विषय में भी अद्वितीय विद्वत्ता प्राप्त की थी। आपके द्वारा 'सिद्धान्त रसायन कल्प' नामक एक वैद्यक ग्रंथ की रचना की गई थी जो अठारह हजार श्लोक परिमित थी। परन्तु आज वह उपलब्ध नहीं है और हमारी उदासीनता के कारण सम्भवतः अब वह कीटों का भोजन बन गई है। कहीं-कहीं उसके कुछ श्लोक मिलते हैं जिनका यदि संग्रह किया जाय तो 2-3 हजार श्लोक सहज ही संकलित हो सकते हैं। इस ग्रंथ की मुख्य विशेषता यह है कि अहिंसा-धर्मप्रेमी आचार्य ने अपने ग्रंथ में औषध-योगों में पूर्ण अहिंसा धर्म का ही समर्थन किया है। इसके अलावा इस ग्रंथ में जैन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग एवं संकेत भी तदनुकूल दिए गए हैं। इसलिए अर्थ करते समय जैनमत की प्रक्रियाओं को ध्यान में रखकर अर्थ करना ही अभीष्ट है। उदाहरणार्थ 'रत्नत्रयौषध' का उल्लेख ग्रंथ में आया है। सर्व-सामान्य दृष्टि से इसका अर्थ होगा— वज्रादि रत्नत्रयों के द्वारा

निर्मित औषधि। परन्तु ऐसा नहीं है। जैन सिद्धान्त में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र को रत्नत्रय के नाम से जाना जाता है। यह रत्नत्रय जिस प्रकार मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्ररूपी दोषत्रय के निराकरण में समर्थ हैं उसी प्रकार आयुर्वेदीय रसशास्त्रोक्त पारद, गन्धक और धातूपधातु आदि तीन द्रव्यों के सम्मिश्रण से निर्मित तथा अमृतीकरणपूर्वक तैयार किया गया रसायन वात-पित्त-कफ-दोष त्रय का नाश करता है। अतएव इस रसायन का नाम- 'रत्नत्रयोषध' रखा गया है<sup>5</sup>।

आचार्य समन्तभद्र ने अपने 'सिद्धान्त रसायन कल्प' नामक उक्त ग्रंथ में विभिन्न औषध-योगों के निर्माण में घटक द्रव्यों का जो प्रमाण (मात्रा) निर्दिष्ट किया है उसमें भी जैन धर्मसम्मत संख्या-प्रक्रिया का अनुसरण किया है जो अन्यत्र नहीं मिलता है। इस ग्रंथ में कथित संख्या-संकेत को केवल वही समझ सकता है जिसे जैनमत की जानकारी है। जैसे 'रस सिन्दूर' नामक रस औषधि की निर्माण-प्रक्रिया में कथित निम्न संख्या-संकेत द्रष्टव्य है -

'सूतं केसरि गन्धकं मृगनवसारदुमां'। यहाँ पर द्रव्य के प्रमाण के लिए जिस संख्या का संकेत किया गया है वह सहज और सर्वज्ञात नहीं है। जैसे - 'सूतं केसरि'। यहाँ 'सूतं' शब्द से 'पारद' और 'केसरी' शब्द से 'सिंह' अभिप्रेत है जिससे पारद और सिंह का संयोग किसी सामान्य अर्थ को ध्वनित नहीं करता है। वस्तुतः 'केसरि' शब्द यहाँ संख्या विशेष की ओर इंगित करता है। जैन धर्म में चौबीस तीर्थंकर होते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर का एक चिह्न होता है जिसे लांछन कहते हैं। जैसे ऋषभदेव का लांछन है 'बैल', तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चिह्न सर्प और चौबीसवें तीर्थंकर महावीर का चिह्न सिंह (केसरि) है। अतः यहाँ फलितार्थ यह हुआ कि सूत (पारद) केसरि अर्थात् 24 भाग प्रमाण लिया जाय। इसी प्रकार 'गन्धक मृग' अर्थात् गन्धक 'मृग' प्रमाण में लिया जाय। मृग चिह्न सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ भगवान का है। अतः गन्धक का प्रमाण 16 भाग लेने का निर्देश है। समन्तभद्र स्वामी के सम्पूर्ण ग्रंथ में सर्वत्र इसी प्रकार के सांकेतिक व पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है जो ग्रंथ की मौलिक विशेषता है<sup>6</sup>।

स्वामी समन्तभद्र के उक्त ग्रंथ का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उनसे पहले भी जैनेन्द्र-मत-सम्मत वैद्यक ग्रंथों का निर्माण उनके पूर्ववर्ती मुनियों ने किया था। क्योंकि उन्होंने परिपक्व शैली में रचित अपने ग्रंथ में पूर्वाचार्यों की परम्परागतता को- 'रसेन्द्र-जैनागमसूत्रबद्धं' इत्यादि शब्दों द्वारा उल्लिखित किया है। इसके अतिरिक्त 'सिद्धान्त-रसायनकल्प' में समन्तभद्राचार्य ने स्वयं उल्लेख किया है - 'श्रीमद्भल्लातकाद्रौ वसति जिनमुनिः सूतवादे रसाब्जं' इत्यादि। यह कथन इस तथ्य की पुष्टि करता है कि आचार्य समन्तभद्र से पूर्व भी वैद्यक ग्रंथों की रचना करनेवाले जैन मुनि हुए हैं जो संभवतः ईसा पूर्व द्वितीय-तृतीय शताब्दी में रहे होंगे और वे कारवाल जिला होन्नावर तालुका के गैरसप्पा के पास हाडल्लि में रहते थे। हाडल्लि में इन्द्रगिरि और चन्द्रगिरि नाम के दो पर्वत हैं। वहाँ पर वे तपश्चर्या करते थे। श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री के अनुसार अभी भी इन दोनों पर्वतों पर पुरातत्वीय अवशेष विद्यमान हैं<sup>7</sup>।

## पुष्पायुर्वेद

श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री के अनुसार श्री समन्तभद्र स्वामी ने किसी 'पुष्पायुर्वेद' नामक ग्रंथ का भी निर्माण किया था। क्योंकि जैन धर्म में व्यवहार में अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्वक अंहिसा को प्रधानती दी गई है।



